ईशोपनिषद्

पद्मभूषण डा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

(१९५९) **(ईशा वास्यं इदं सर्वं)** ईशसे वसनेयोग्य यह सब है। **(यत् किं च जगत्यां जगत्)** जो कुछ जगतीमें जगत् है। **(तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः)** उसका दानसे उपभोग कर। **(मा गृधः)** लोभ मत कर। **(कस्य स्वित् धनम्)** किस एक व्यक्तिका भला धन है ? ॥१॥

ईश= स्वामी, प्रभु, ईश्वर, नियामक, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म। **'वास्यं = (वस्)** = रहना, होना, प्रतीत होना, परिधान करना, ओढना, आच्छादन करना, स्थिर करना, प्रीति करना, लेना, स्वीकारना, अर्पण करना। **'ईशा वास्यं'**= स्वामीसे वसने योग्य; स्वामी होकर वसने लायक। ईश्वरसे ओढा हुआ अथवा आच्छादित हुआ हुआ; देवके द्वारा प्रीतिसे दिया हुआ। **ईशा वास्यं इदं जगत्।** स्वतंत्र नियामकके द्वाराही रहनेयोग्य यह जगत् है। परतंत्र गुलाम बने हुएके रहनेयोग्य यह जगत् नहीं है ॥

जगत् = हिलनेवाला, बदलनेवाला, चंचल, अस्थिर, जगत्, मनुष्य। **जगती** = बदलनेवाली, सृष्टि, विश्व, मानवजाति। **जगत्यां जगत्** = नित्य परिवर्तनशील जगत्, समुदायमें बदलनेवाला एक पदार्थ। अनेकोंमे एक; सङ्घमें व्यक्ति; समष्टिमें व्यष्टि; मानवजातिमें एक मनुष्य, जातिमें एक।

त्यक्त = त्यागा हुआ, दान किया हुआ धर्मके लिए समर्पित किया हुआ। **भुञ्जीथाः** = **(भुज्)** = भोगना, खाना, उपभोग करना, स्वयं अपने लिए उपयोग करना, अपने अधिकारमें रखना, शासन करना, अपनासा कर लेना। **त्यक्तेन भुञ्जीथाः** = दान करके भोग कर; दान देकर अवशिष्ट रहे हुएका उपभोग कर; जगद् उपकारके लिए समर्पण करनाही अपना वास्तविक उपभोग है ऐसा समझ।

मा गृधः = अपने अधिकारमें जो जगत्का भाग आया हुआ हो, उसका भी लोभ मत कर; उसका उपभोग करना हो तो दान करके कर। दूसरेके पदार्थका लोभ तो कभी भी मत कर।

स्वित् = शंका, आश्चर्य, ठीक है क्या? भला? **कस्य स्वित् धनम् ?** = भला धन किस एक व्यक्तिका है? धन मेरे अकेलेका है ऐसा माननेवाले लोग मृत्युके समय धन छोडकर ले जाते है; अतः धन किसी एक व्यक्तिका नही है यह बिलकुल सत्य है। तो यह किसका है ? उसका उत्तर **कस्य धनं = (कः)** प्रजापतिका धन है। प्रजापालन करनेवालेका धन है, अथवा सर्व जनताका धन है, क्योंकि व्यक्तिके मरनेपर भी समाज अमर रहता है, अतः सब धन जनताका है और जनताका है इसीलिए व्यक्ति उसे जनताके अभ्युदयके लिए अर्पण कर अवशिष्ट रहे हुएमेंही संतुष्ट होकर उसका भोग करे। सब धन सम्पूर्ण जनताका है। वह किसी भी एक व्यक्तिका नही है, अतएव व्यक्तिको धनका लोभ छोड देना चाहिए और सबके उपकारार्थ उसका व्यय करके जो कुछ शेष बचे, उससे अपनी जीवनयात्रा चलानेके लिए उपभोग करना चाहिये ॥१॥

(१९६०) **(इह कर्माणि कुर्वन् एव)** यहां प्रशस्त कर्म करता हुआ ही **(शतं समाः जिजीविषेत्)** सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे। **(एवं त्वयि)** यह **(ज्ञान)** तेरे में **(हो)**, **(इतः अन्यथा न अस्ति)** इससे दूसरा **(मार्ग)** नहीं। **(कर्म नरे न लिप्यते)** कर्म नरको दूषित नही करते ॥२॥

कर्म = प्रशस्ततम कर्म, श्रेष्ठ पुरुषार्थ, सत्कार- संगति-दानात्मक कर्म, जनकाती उन्नतिके कर्म, लोकसंग्रहकारक उपकार कर्म। **अकर्म** = अकर्म दो प्रकारके है- (१) जो किये हुये भी न किए हुएके बराबर है; और वैयक्तिक अस्तित्वके लिये हो केवल जो कारणभूत है वे। (२) निष्काम कर्म। **विकर्म** = विरुद्ध कर्म, अयोग्यकर्म, व्यक्ति और समाजकी हानि करनेवाले कर्म। ये कर्मके तीन भेद है। इस मंत्रमें पहिला अर्थ विवक्षित है। **इह** = यहां इस जगत्में।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

शंत समाः = सौ वर्ष, इच्छाशक्ति उत्पन्न होनेके बादके सौ साल, अर्थात् यदि २० वर्षकी आयुमें इच्छाशक्ति प्रकट होती है, ऐसा मान लें तो तबसे सौ साल जीनेकी इच्छा प्रयत्नपूर्वक करे, इन प्रकार १२० सालकी मानवी आयु होती है। अत एव ज्योतिष् गणितकारोंने यही मान स्वीकारा है। इतना पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेकी प्रयत्नपूर्वक इच्छा रखनी चाहिए, ऐसा उपदेश यहां पर है। 'श्रेष्ठोंका सत्कार, साथियोंके साथ संगति और नीचेकी स्थितिमें रहनेवालोंको दान' ये तीन कर्म यज्ञमें मुख्य है। इस कारण यज्ञद्वारा जनताका मेल तथा उन्नति होती है। सब यज्ञकर्मोंका यही ध्येय है। सब यज्ञ ऐसे लोकसंग्रहकारक होनेसे ऐसे लोकसंग्रहकारक प्रशस्त कर्मके लिए अपने पासके धनका व्यय करना सबके लिए उचित है। (१) अज्ञानियोंके ज्ञानदान, (२) बडोंका आदर, (३) अतिथियोंका सत्कार, (४) भूतमात्रपर दया, और (५) भूमि जल आदि दैवी शक्तियोंका आदरपूर्वक प्रयोग; ये पांच श्रेष्ठ **(यज्ञ)** कर्म प्रत्येक मनुष्यके लिये करने आवश्यक है।

एवं त्वायि = यहांतक जो सात उपदेश कहे; वे तुझ जैसे साधकमें स्थिर हों।

इतः अन्यथा नास्ति = उन्नतिके लिये इसके सिवाय भिन्न मार्ग नहीं है।

नरः = **(न रमते)** जो भोगोंमें रमता नही वह। **कर्म नरे न लिप्यते** = जो भोगोंमें फंस कर अपने कर्मोंसे च्युत नही होता, ऐसे मनुष्यको कर्मोंसे होनेवाला दोष नहीं लगता।

(सूचना- यहांतक जो आत्मोन्नतिका मार्ग कहा है वह यह है)-

'(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व मानते हुए, वह हमारे कर्मोंको देखता है ऐसा मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके सुखमें व्यक्तिका सुख है ऐसा मानना, (३) दान करके बचे हुएका स्वतः भोग करना। (४) लोभ न करना, (५) सब धन मुझ अकेलेका नही है पर वह सब प्रजाका है ऐसा मानना, (८) इसी एक आत्मोन्नतीके मार्गपर दृढ विश्वास रखना (९) उद्धारका इसके सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है, ऐसा मानना, (१०) सत्कर्म कभी बन्धन नही करते ऐसा मानना' । इस मार्गपर चलकर अपने जीवनको सार्थक करनेवाले लोग 'समर्थ' बनकर जगत्में आदर्शभूत बनते है और बंधनसे मुक्त होकर अंतमें उस स्थानको जाते है, जहां कि आत्मोन्नति करनेवाले लोग जाते है। परन्तु इस मार्गको न स्वीकारते हुए जो लोग आत्मघातके मार्गसे जाते है, उनकी क्या दशा होती है, इसको तीसरे मंत्रमें देखिए ॥२॥

(१९६१) **(असुर्याः नाम ते लोकाः)** बलके लिऍ प्रसिद्ध ऐसे वे लोग, **(अन्धेन तमसा आवृताः)** गाढ अंधकारसे व्याप्त है। **(ते प्रेत्य तान् अपिगच्छन्ति)** वे मृत्युके बाद उनमें जाते है **(ये के च आत्महनः जनाः)** जो कोई आत्मघाती जन हैं ॥३॥

असुर्य- 'असम्र', = 'असु' अर्थात् प्राण। उस प्राणकी शक्तिको जो **(रा-देना)** देता है वह **'असु+र'** है। यह 'असुर' शब्द वेदमें 'आत्मा, परमात्मा, ईश्वर', का वाचक है। अतः उनकी जो प्राणशक्ति है उसका नाम 'असुर्य' है। 'प्राणियोंको प्राणशक्ति देनेवाले देवकी प्राणशक्ति' यह इसका अर्थ है। यह शक्ति जैसी देवोंमे वैसीही राक्षसोंमें, और जैसी सज्जनोंमें वैसीही दुर्जनोंमें रहती है। प्रत्येक शरीरमें जो बल है, वह इसी शक्तिके कारण है। शरीरमें प्राणशक्तिके नीचे जो इन्द्रियशक्ति और शरीरशक्ति कार्य कर रही है वह इसी असुर्य शक्तिके कारण है। इससे स्पष्ट हुआ कि 'असुर्य' अर्थात् 'इन्द्रियोंमें और शरीरमें कार्य करनेवाले बल'। इनसे जो भिन्न है वे आत्माके दूसरे बल है, और वे प्राणसे भी उत्कृष्ट है; ये मानसिक बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियोंद्वारा प्रकट होते है। बुद्धि और मनमें जो चैतन्य सामर्थ्य प्रकट हुआ है वह इस **'असुर्य'** नामक बलसे भिन्न है। **'असुर्या नाम ते लोकाः' = केवल जो शारीरिक बलके लिए प्रसिद्ध है ऐसे लोग हैं,** वे शारीरिक बल दिखाना, दंगा फिसाद करना, मारपीट करना आदि व्यवहारके लिए प्रसिद्ध है। सत्य, न्याय, धर्म, मानवीय उच्च आदर्श आदि बातोंके समझनेकी योग्यता इनमें नहीं है। यद्यपि इनके शारीरिक बल आत्मासेही आए हुए बल है, तथापि ये अपने अज्ञानके कारण असन्मार्गमें लगे होते है, अतएव **'अन्धेन तमसा आवृताः' = ये लोग 'अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हुए हैं'**= ऐसा समझा जाता है। **'ये के च आत्महनः जनाः ते तान् प्रेत्य (अपि) गच्छन्ति ।** = जो कोई आत्मघाती जन हैं वे वैसे मूर्ख लोकोंमें मरनेके बाद

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

भी जन अर्थात् केवल प्रजनन करके कैसी भी संतति उत्पन्न करनेमें ही जो समर्थ है, जिनसे इसकी अपेक्षा अन्य कोई प्रशंसनीय मानवीय कर्तव्य होना संभव नही है। ये जन आत्मोन्नतिका पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ है और इनके कष्ट होनेसे इनसे यदि कोई कार्य हो भी गया, तो वह आत्माकी अवनतिका ही होता है, इसलिये इन्हें यहां आत्मघातकी कहा गया है। पूर्वके दो मंत्रोंमे जो मार्ग बताया है, उस आत्मोन्नतिके मार्गका अवलम्बन न करते हुए, उसके विरुद्ध आत्मघाती मार्गोंकाही ये अवलम्बन करते है। आत्मघातका मार्ग यह है-

'(१) ईश्वरका सर्वत्र अस्तित्व न मानना, (२) सम्पूर्ण जनताके आधारसे व्यक्ति स्थित है ऐसा न मानकर, व्यक्तिका यथा संभव स्वार्थ बढाते हुए, उससे संघके नाशके लिये कुकर्मोंको करते रहना, (३) स्वार्थपूर्वक भोग करना, (४) लोभ करना, (५) सब धन केवल मेराही है ऐसा मानना, (६) सदा कुकर्म करना (७) जिनसे आयु क्षीण हो ऐसे हीन कर्म करते जाना, (८) एक सन्मार्गपर मनको स्थिर न रखना, (९) विपरीत मार्गोंपर विश्वास रखना, (१०) सत्कर्म भी बंधन हैं ऐसा मानना।'

ये दस प्रकारके मार्ग आत्मघातके है। इन मार्गोंसे जो जाता है वह किस प्रकारसे अधोगतिको प्राप्त करता है यह बात इस मंत्रने दिखलाई ॥३॥

(१९६२) (एकं, अन्-एजत्) वह एक, चञ्चलतारहित, **(पूर्वं, अर्शत्)** सबसे पुरातन, स्फूर्ति देनेवाला, **(मनसः जवीयः)** मनकी अपेक्षा वेगवान् है। **(देवाः एनत् न आप्नुवन्)** इन्द्रियां इसे प्राप्त नहीं करतीं। (तत् तिष्ठत् धावतः) वह स्थिर होता हुआ दौडते हुए **(अन्यान् अत्येति)** दूसरोंके आगे जाता है। **(तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति)** उसके आधारसे माताके **(गर्भमें)** रहनेवाला **(जीव)** कर्मोंका धारण करता है ॥४॥

(प्रथम मंत्रमें ईश सर्वत्र वसता है,' ऐसा कहा है, परन्तु वह एक है अथवा अनेक? और उसका क्या सामर्थ्य है? इस विषयमें कुछ नही कहा है। यद्यपि वहां 'ईशा' ऐसा एकवचनका प्रयोग है, तथापि यह संदेह ही सकता है कि कदाचित् वह जातिवाचक एकवचन हो; अतः उपरोक्त शंकाको दूर करनेके लिए इस मंत्रमें वह 'एक' ही है, ऐसा कहकर उसके गुणोंका वर्णन किया है। वे गुण इस प्रकार है-) **'एकं'**- वह पूर्ण ब्रह्म एक है। **'अनेजत्'**= वह हिलता नही अर्थात् वह स्थिर है। वह सर्वत्र व्याप्त होनेसे इधर उधर नहीं जाता, वह चंचल नही है। **'पूर्वं'** = वह सबसे पूर्वका है। जगत् निर्माणके भी पूर्व वह था। **'अर्शत्'** = **(ऋष्=गति)** सबको गति देनेवाला है, स्फूर्ति देनेवाला है, वह चालक, प्रेरक और निरीक्षक है। **'मनसः जवीयः'**= वह मनकी अपेक्षा वेगवान् है। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियां और शरीर इस क्रमसे देखे तो, प्रथमकी अपेक्षा दुसरेंमें गति कम और तीसरेमें उससे भी कम इस प्रकारसे गति कम होती जाती है। इसलिए वह मनसे ऊपर दो तीन सीढीयां आगे होनेसे मनसे भी अधिक वेगवान् है। मन चंचल है, पर मन जिसका चिंतन करता है वहां वह ब्रह्म पूर्वसेही व्याप्त होनेसे, मनसे पूर्व वह सर्वत्र फैला हुआ है। (मनसे वह अत्यन्त वेगवान् होनेसे प्राप्त नहीं कर सकता यह बात स्पष्टही है, परन्तु इतर **'देव'** **(इन्द्रिया)** उसे प्राप्त कर सकते है वा नहीं? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है-)

देवाः एनत् न आप्नुवन् = देवोंके तीन क्षेत्र हैं। 'व्यक्तिगत देव' व्यक्तिमें आंख, कान आदि इन्द्रियां देव है। ये इन्द्रियां बहिर्मुख होनेसे इन्हें अन्तरात्माका दर्शन होता नहीं। **'मानव-समाजस्थ देव'** = ज्ञानी (शब्द शास्त्री), शूर, व्यापारी, कारीगर, ये मनुष्य-समाजमें देव हैं। ये व्यवहारमें जुटे रहते हैं अतः इन्हें भी परमात्म-साक्षात्कार नहीं होता। **'जगत्में स्थित देव** = अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य आदि देव जगत्में हैं। वे भी ब्रह्म साक्षात्कारके अधिकारी नहीं हैं। इस प्रकार ये तीनों क्षेत्रोंके देव अन्तरात्माको पा नहीं सकते। व्यवहारमें न फंसते हुए जो बंधनसे छूटताहै, व निःसंग वृत्तिसे रहता हुआ उस परमात्माके लिए आत्मसर्वस्वका समर्पण करता है वही सन्त उसे प्राप्त कर सकता है।

'तिष्ठत' = वह ब्रह्म स्थिर है। ऐसा होते हुए भी वह **'धावतः' अन्यान् अत्येति'**= दौडते हुए दूसरे पदार्थोंके भी

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

पहिले गया हुआ होता है ।व्यक्तिमें इन्द्रियां दौड रही हैं । समाजमें मनुष्य भगदौड़ मचा रहे है, जगत्में सूर्य, चंद्रादि नक्षत्र भी दौड रहे हैं । परन्तु ये सब जहां दौड कर जाते हैं, वहां पहिलेसेही ब्रह्म पहुंचा हुआ होता है । चाहे कोई कितना भी तेज दौडता हो पर वह इस आत्मासे पूर्व पहुंचनेके स्थानपर पहुंच नहीं सकता ।(दूसरे मंत्रमें'प्रशस्त कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीनेकी प्रयत्नपूर्वक इच्छा करनी चाहिए ' ऐसा कहा है । परन्तु इसपर ऐसी शंका उठती है कि अन्तके जो कर्म होंगे, उनका फल मृत्यु हो जानेसे उस व्यक्तिको नहीं मिलेगा और ऐसी दशामें क्या वे उत्तम कर्म व्यर्थ जाएंगे? इसका उत्तर 'किए गए कर्म व्यर्थ नहीं जाते' ऐसा अग्रिम मंत्रभागमें दिया हुआ है, उसे अब यहां देखिए-

'मातरि-श्वा'= माताके उदरमें रहनेवाली जीव, जिसका पूर्वका शरीर छूट गया है और जिसका दूसरा देह बन रहा है,वह माताके गर्भमें आया हुआ जीव, **'तस्मिन् अपः दधाति'** = उस ब्रह्मके आधारसे अपने कर्म धारण करता है । जिस प्रथम शरीरसे कर्म किये थे वह यद्यपि नष्ट हो गया और आगेका शरीर नहीं भी मिला, तो भी इससे पूर्व कृत अच्छे बुरे कर्म नष्ट नहीं होते । परमेश्वरके त्रिकालमें स्थिर नियमोंसे वे कर्म संस्कार रूपसे आत्माके पास रहते हुए जीवको अच्छे बुरे भोग देते ही हैं । **('ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन ।')** (भ.गी. ५।१०) ब्रह्मको समर्पण करते हुए आसक्तिरहित कर्म जो करता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है ।' इस गीताके वचनानुसार भी इस मंत्रभागका अर्थ हो सकता है । **'तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति'** = उस ब्रह्मको कर्म समर्पण करते हुए जो जीव कर्म करता है, (वह पापसे बध्द नहीं होता) । दूसरे मंत्रमें **'नर कर्मसे लिप्त होता नहीं'** = ऐसा कहा है, वह किस प्रकारसे? यह इस मंत्रभागने दिखाया है, ऐसा यहां सम्बन्ध जानना चाहिए ।) इस मंत्रमें कहे अनुसार आत्माका ध्यान करना चाहिए । (इस मंत्रभागसे पुनर्जन्मको कल्पना उत्तमतया दिखाई गई है ।) ॥४॥

(१९६३) (तत् एजति (एजयति)) वह हिलाता है, (परन्तु) **(तत् न एजति)** वह (स्वयं) हिलता नहीं । **(तत् दूरे)** वह दूर है, (और) **(तत् उ अन्तिके)** वह निश्चयसे समीप (भी है) **(तत् अस्य सर्वस्य अन्तः)** वह इस सबके अन्दर है । (और) **(तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः)** वह निश्चयसे इस सबके बाहर (भी है) ॥५॥

तत् = वह, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, पूर्ण ईश्वर ।

'तत् एज (य) ति'= वह सबको प्रेरित करता है, चलाता है, फिराता है, परन्तु-

'तत् न एजति'= वह स्वयं हिलता नहीं, चंचल नहीं होता । वह सदा स्थिर व अचल रहता है ।

'तत् दूरे, तत् उ अन्तिके'= वह दूर है और निश्चयसे पास भी है; अर्थात् वह सर्वत्र समान रूपसे व्याप्त है; अथवा वह अज्ञानी मनुष्यको अत्यन्त दूर और अप्राप्य प्रतीत होता है, इसके विरुध्द ज्ञानी भक्तके वह अत्यन्त समीप है ।

'तत् अस्य सर्वस्य अन्तः बाह्यतःच'= वह इस सबके अन्दर और बाहर है, वह कहीं नहीं, ऐसा नहीं । सबके अन्दर है इसका अर्थ वह मनुष्यके अन्दर भी है ही । अतः वह वस्तुतः अत्यन्त समीप है, पर भक्तिहीन मनुष्यको उसके समीप होते हुए भी उसके समीप होनेका अनुभव नहीं होता ! प्रथम मंत्रमें **'ईश सर्वत्र बसता है'** ऐसा कहा है । वही उपदेश ४ और ५ वें मंत्रोंमें अधिक स्पष्ट किया है ।

(पूर्वके दो मंत्रोंमें जो ईशके गुणोंका वर्णन किया है वह केवल शाब्दिक बोधके लिये नही है, वह मनुष्यके स्वभाव और आचरणमें आना चाहिए, मनमें रहना चाहिये और कार्यमें परिणत होना चाहिए । वह आचरणमें आने लगा तो मनुष्यमें कैसी समबुद्धि होती है वह इसमें दिखायी है ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

(१९६४) **(यः तु सर्वाणि भूतानि)** जो वास्तवमें सब भूतोंको **(आत्मनि एव अनुपश्यति)** आत्मामे अनुभवसे देखता है, **(सर्वभूतेषु च आत्मानं)** (और) सब भूतोंमें आत्माको **(अनुपश्यति)** अनुभवसे देखता है, (वह) **(ततः न विचिकित्सति)** किसीका संशय नहीं करता ॥६॥

'यः भूतानि आत्मानि अनुपश्यति'= जो मनुष्य उत्पन्न हुए हुए सब पदार्थ, विशेषतः सर्व प्राणिमात्र, आत्माके अन्दर है, ऐसा अनुभवसे विश्वासपूर्वक जानता है; और इसी प्रकार-

'सर्वभूतेषु आत्मानं' = सर्व भूतोंमें उस एक अद्वितीय आत्माको अनुभवपूर्वक देखता है, वह सब भूतोंके अन्दर बाहर आत्माका विश्वासपूर्वक अनुभव लेनेके कारण,

'ततः न विजुगुप्सते' = किसी भूतमात्रका तिरस्कार नहीं करता, उनसे दूर रहनेका भार उसके मनमें नही आता, उसके विषयमें कोई भी संदेह मनमें नही होता । **(वाजस. पाठः) 'ततो न विचिकित्सति'**= उनके विषयमें संशय नही करता । सर्व भूतोंके विषयमें वह समान आत्मभाव मनमें रखता है । उसकी सर्वत्र समदृष्टि होती है । पूर्वके मंत्रोंमें कहा अनुभव अधिक दृढ होनेके पश्चात् **'सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है'** इतनेही अनुभवपर स्थिर न रहता हुआ, ज्ञानीभक्त उसके ऊपरकी भूमिका पर जाकर **'आत्मैकत्वकी महिमा** का प्रत्यक्ष करता है । यह अनुभव इस मंत्रने बताया है ॥६॥

(१९६५) (यस्मिन् विजानतः) जहां विज्ञानीकी **(आत्मा एव)** आत्मा ही **(सर्वाणि भूतानि अभूत)** सर्व भूत बन गयी; **(तत्र एकत्वं अनुपश्यतः)** वहां एकत्व अनुभव करनेवालेको **(कः मोहः)** मोह कैसा? और **(कः शोकः)** शोक भी कैसा? ॥७॥

वि+जानत् = विशेष रीतिसे जाननेवाला, देखनेवाला, अनुभव लेनेवाला, विशेष ज्ञानी । **'विजानतः'** ऐसे ज्ञानीके लिए **'यस्मिन्'**= जब, जिस समय, जिस अवस्थामें, जिस भूमिकापर पहुंच जानेके बाद, जो अनुभव मिला, वह है; **'आत्मा एव सर्वाणि भूतानि अभूत्'**= आत्माही सर्व भूत बने, आत्मस्वरूपही सब विश्व भासने लगा, ऐसा जानकर अन्तमें यह जानना कि सामर्थ्य समर्थका निज ऐश्वर्य है और वह उससे भिन्न नही है । ऐसा जिसको ठीक अनुभव हुआ; उसमें सर्वात्मभाव स्थिर हुआ ऐसा समझना योग्य है ।

तत्र = वहां, उस अनुभवकी अवस्थामें; **'एकत्वं अनुपश्यतः'**= सर्वत्र एक आत्मतत्त्वका अनुभव लेनेवाले उस ज्ञानी मनुष्यको, **'कः मोहः, कः शोक'** = कौनसा मोह भ्रममें डालेगा और कौनसा शोक भला दुःख उत्पन्न करनेमें समर्थ होगा? ऐसे ज्ञानीको मोह और शोक जरा भी कष्ट नही पहुंचा सकते, वे उसे छू भी नहीं सकते । **'ईश सर्वत्र है'** ऐसा जो प्रथम मंत्रने कहा है, उसका पुनः अधिक स्पष्टीकरण इस आठवें मंत्रने किया है, और वह 'शुद्ध, समर्थ, सर्वत्र, स्वयंभू, व्यवस्थापक है, ऐसा यह मंत्र बतला रहा है- ॥७॥

(१९६६) (स पर्यगात्) वह सर्वत्र व्यापक है । **(अकायं)** वह देह- रहित, **(अस्नाविरं, अव्रणं)** स्नायु-रहित, व्रणरहित, **(शुद्धं, अपापविध्दं, शुक्रंः)** शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी **(समर्थ)**, **(कविः, मनीषी,)** द्रष्टा, ज्ञाता **(मनका स्वामी)**, **(परिभूः स्वयंभूः)** विजयी और स्वयंभू है । **(याथातथ्यतः)** (उसने) योग्य रीतिसे **(शाश्वतीभ्यः समाभ्यः)** अनादि कालसे सब **(अर्थान् व्यदधात्)** अर्थोंकी व्यवस्था की है ॥८॥

'स पर्यगात्'= वह आत्मा सब स्थानमें पहुंचा हुआ है, सर्व व्यापक है, वह सब जानता है, सर्वत्र है, **'अ-कायं, अस्नाविरं, अव्रणं'**= वह शरीररहित है अत एव वह स्नायु और व्रणसे रहित है । **'अ-पापविद्धं'**= वह पापोंसे ग्रस्त नहीं है । वह निष्पाप है । **'शुद्धं, शुक्रं'**= वह पवित्र होनेसे निष्पाप, तेजस्वी और समर्थ है ।

अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ १२ ॥

संघ, उसमें व्यक्तिके मरते रहनेपर भी, अमर होगा और प्रत्येक व्यक्ति भी संघके लिए आत्मसमर्पण रूप सर्वमेध यज्ञ करके अपना जीवन सार्थक करता हुआ अर्थात् स्वतः संघरूप- विश्वात्मरूप बनता हुआ अमरत्व प्राप्त कर सकेगा । मनुष्योंका **'कर्मक्षेत्र'** इन तीन मंत्रोंमे दर्शाया है । (वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें ये तीन मंत्र पहिले तथा विद्या अविद्याके बादमें है ।) सब आत्मोन्नति अपरिग्रहवृत्तिसे होती है । परिग्रहका अर्थ है अपना सुख बढानेके लिए सुख साधनोंको अपने पास इकठ्ठा करना । यही सुवर्णका प्रलोभन है । इसके नीचे सब धर्मनियम दब जाते है, इसलिये इस प्रकारका स्वार्थी मनुष्य धर्मको जान नहीं सकता । इस प्रलोभनसे मुक्त होनेका उपाय अगले मंत्रमें कहा है ।।११।।

(१९७०) **(ये अ-विद्यां उपासते)** जो अनात्मज्ञानकी (ही केवल) उपासना करते हैं । **(ते अन्धं तमः प्रविशन्ति)** वे गाढ अंधकारमें जाते हैं । **(ये उ विद्यायां रताः ते ततः भूयः इव तमः)** जो केवल आत्मज्ञानमें रमते हैं,वे तो उनसे भी मानो अधिक अंधकारमें जाते हैं ।।१२।।

'विद्या'=ईश-विद्या, ब्रह्म-विद्या, आत्म-विद्या, विद्या, **'अ-विद्या'**=अनीश-विद्या, अनात्म-विद्या, **(प्रकृति-विद्या, सृष्टिविद्या, जगद्विद्या)** अविद्या । प्रथम मंत्रमें **'ईशा वास्यं इदं सर्वं जगत्**=ईशसे वसनेयोग्य यह सब जगत्'है ऐसा कहा है । यही ज्ञान अनुभवसे जानना है । यही मनुष्यका **'ज्ञानक्षेत्र'** है ।इसे जाननेके लिए **'ईश' कौन है और 'जगत्' क्या है ?** इन दो बातोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । **'ईश और अनीश (=जगत्)'** इन दो पदार्थोके ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ईशकी विद्या और अनीशकी विद्या अर्थात् सृष्टिकी विद्या प्राप्त करनी चाहिए । आत्माका ज्ञान **'विद्या'** और आत्मासे भिन्न अनात्माका ज्ञान **'अविद्या'** है । अविद्या अर्थात् अज्ञान-ज्ञानहीनत्व-नहीं, क्योंकी मनुष्यके परमकल्याणार्थ जैसे आत्माको जानना चाहिए वैसेही जगत्को भी जानना चाहिए । जगद्विद्यासे अभ्युदय- ऐहिक उत्कर्ष होता है और आत्मविद्यासे निःश्रेयस अर्थात् आत्मिक शक्तिका विकास होता है । इसलिए परम कल्याण साधनेके लिए इन दोनों विद्याओंको प्राप्त करना चाहिए । ये दोनोंही ज्ञान प्राप्त न करते हुए यदि कोई मनुष्य किसी एकही विद्यामें रमेगा और दूसरीकी ओर दुर्लक्ष्य करेगा, तो उसकी कैसी अवनति होती है वह इस मंत्रमें उत्तमतया दर्शायी है ।

'अविद्योपासक'= सृष्टिविद्याकेही जो केवल उपासक हैं, अर्थात् जो आत्मविद्याकी ओर पूर्णतया दुर्लक्ष्य करके केवल सृष्टिविद्याके पीछे लगे हुए है वे इस संसारमें व्यवहारके उपयोगी सुखके विपुल और उत्तमोत्तम साधन निर्माण तो कर लेंगे, पर केवल भोगेच्छा बढा लेनेसे कालान्तरसे उनकी स्वार्थी भोगतृष्णा अत्यन्त बढेगी और वे अपने सुखके लिए दूसरोंकी बलि लेनेकी खटपट करेंगे, जिससे इनके प्रयत्नोंसे जगत्में अशान्ति बढकर दुःख बढेंगे, अतः वे **'अन्धं तमः प्रविशन्ति'** = गाढ अंधकारमें प्रविष्ट होते है ऐसा यहां कहा है ।

'विद्यारताः'= केवल आत्मविद्यामेंही जो रमते हैं अर्थात् सृष्टिविद्याकी ओर पूर्ण पूर्ण दुर्लक्ष्य करके केवल आत्मविद्यामें ही रमते हैं और उसके सिवाय और कुछ नहीं करते, वे सृष्टि विद्याके उपासकोंसे भी अधिक गाढ अंधकारमें जाते है । क्योंकि जीवन यात्रा चलानेके लिए अत्यन्त आवश्यक और उसीसे प्राप्त होनेवाले व्यवहारके सुख-साधन भी इन्हें नही मिलते । इस प्रकार न प्रपंच और परमार्थ, ऐसी इनकी स्थिति हो जाती है । (केवल सृष्टिविद्योपासक प्रपंचके साधन बढाकर कुछ तो चैन करते है, पर केवल आत्मविद्यामें रमनेवाले और उसके सिवाय कुछ न करनेवाले मनुष्य, यदि उनके लिए दूसरोंने कुछ भी न किया, तो वे ऐहिक साधनोंके विना जीवित भी नहीं रह सकते । अतः उनकी अधिक हीन अवस्था होती है, ऐसा जो इस मंत्रद्वारा कहा है, वह नितांत सत्य है ।) ।।१२।।

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

(११७१) (विद्यया अन्यत् एव आहुः) आत्मज्ञानका (फल) भिन्न (है ऐसा) कहते है (और) **(अविद्यया अन्यत् आहुः)** अनात्मज्ञानका (फल) भिन्न है ऐसा कहते है । **(इति धीराणां शुश्रुम)** ऐसा हम धीरोदात्त लोगोंसे सुनते आये है । **(ये नः तत् विचचक्षिरे)** जिन्होंने हमें उस विषयमें उपदेश दिया ॥१३॥

'विद्यया अन्यत्'= आत्मज्ञानसे एक भिन्नही फल मिलता है । इस आत्मविद्यासे आत्मशक्तिका विकास होता है, अमृतत्व प्राप्त होता है, बन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द मिलता है, आत्मिक बल बढता है, मनुष्य निर्भय होता है और सच्ची शान्तिका अनुभव मिलता है ।

'अविद्यया अन्यत्'= अनात्माकी अर्थात् जगत्की या सृष्टिकी विद्याके फल भिन्न है । सृष्टिविद्यासे ऐहिक ऐश्वर्य, सांसारिक सुव्यवस्था, इस जगत्में सुखलाभकी समृद्धि, उपभोगके साधनोंकी विपुलता प्राप्त होती है । जिसको अभ्युदय कहा जाता है वह सृष्टिविद्यासे प्राप्त होता है । इस जगत्में सुखपूर्वक रहनेके लिए जिन जिन साधनोंकी आवश्यकता है वे सब साधन इससे मिलते हैं । इस प्रकार ये दो भिन्न भिन्न फल इन दोनों विद्याओंके है । इनमेंसे प्रत्येक विद्याके फलोंमे बहुत भारी प्रलोभन है । इससे साधारण मनुष्य उन प्रलोभनोंमें फंस जाता है । जगत् विद्यासे ऐहिक भोगके साधन बढानेसे ऐहिक ऐश्वर्य बढता है, इसलिए जो साधारण मनुष्य इस सृष्टिविद्याके पीछे लगता है, वह अपने भोग बढाता है और वह प्रलोभनमें फंसता जाता है और उसे वास्तविक कल्याणका मार्ग दीखता नही । इसी प्रकार जो आत्मज्ञानमें लीन हो जाता है, उसे उससे विशेष शांति मिलती है और वह और ज्यादा उसमें रमता जाता है और संसारमें रहनेके लिए अर्थात् जीवन व्यतीत करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक साधनको जुटानेका काम भी छोड देता है और अत एव धीमे धीमे उसकी इस लोककी यात्रा भी चलनी कठिन हो जाती है । यदि तो उसकी औरोंने सहायता की तो तो उसे कष्ट नहीं होता, पर न की तो इस लोककी यात्रा चलनी भी कठिन हो जाती है। दोनों ओर ये ऐसे दो प्रलोभन हैं । उन प्रलोभनोंका मोह हो जानेसे दोनोंही ओर ये दो भय हैं । अतः दोनों ओरके प्रलोभनोंमें न फंसते हुए समतोल वृत्ति रखते हुए दोनोंही विद्याओंसे लाभ लेनेवाला जो ज्ञानी है, वही सच्चा **'धीर'** वृत्तिवाला मनुष्य है । लाभ होनेपर जो उन्मत्त होकर किंकर्तव्य विमूढ नही होता और हानि होनेपर भी खिन्न न होता हुआ जो कर्तव्यसे नही गिरता उसे **'धीर'** कहते हैं । मनुष्यके सामने सदा दो मार्ग आते हैं । पहिला **'श्रेयमार्ग'** इससे जो प्रथम कष्ट सहन करता है वह अन्तमें कल्याण प्राप्त करता है । और दूसरा **'प्रेयमार्ग'** जो प्रथम सुख अनुभव करता है पर अंतमें भयंकर आपत्ति भोगता है । इस विषयमें 'कठ उपनिषद्' में कहा है- **'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः । श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ।।** कठ उ. १।१।२' अर्थात् श्रेय और प्रेय ये दो मार्ग मनुष्यके पास आते है, उनमेंसे श्रेय मार्गका स्वीकार धीर लोक करते है और प्रेय मार्गको मन्दबुद्धिवाले पसंद करते है और अन्तमें फंसते हैं । जो श्रेय मार्गसे जाता है वह **'धीर'** है, इस धीर वृत्तिके मनुष्यको इन दोनों विद्याओंसे अपना सच्चा कल्याण किस प्रकारसे प्राप्त होता है यह अगले मंत्रमें देखो ॥१३॥

(११७२) (यः विद्यां च अविद्यां च तत् उभयं सह वेद) जो आत्मज्ञान तथा प्राकृतिकविज्ञान इन दोनोंको एकत्र **(उपयुक्त)** जानता है, (वह) **(अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा)** प्रकृतिविज्ञानसे मृत्युको दूर करके **(विद्यया अमृतं अश्नुते)** आत्मज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करता है ॥१४॥

'विद्या और अविद्या'= आत्माका ज्ञान और सृष्टिका विज्ञान ये दो प्रकारकी विद्याएं मनुष्यकी उन्नतिके लिए समान उपयोगी है । आत्मविद्यासे आत्मिक बल बढता है, शान्ति मिलती है तथा मनका समाधान होता है । इसी प्रकार सृष्टिकी विद्यासे ऐहिक उत्कर्षके साधन प्राप्त होते है । इस रीतिसे इन दोनों विद्याओंसे मनुष्यकी वास्तविक उन्नति होती है । यह बात जिसकी समझमे आ गई है वह मनुष्य-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ॥१५

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' = प्रकृतिकी विद्यासे, पंच महाभूतोंके ज्ञानसे, सृष्टिके शास्त्रोंकी सहायतासे मृत्युकी दूर करता है। मृत्यु अर्थात् अपमृत्यु दुःख, व्यवहारमें दैनिक कार्योंमे होनेवाली रुकावटें । ये रुकावटें ज्यो ज्यों सृष्टि विद्यासे विविध साधन तैयार होंगे, ज्यों ज्यों अन्न तथा पेय वस्तुका निर्माण होता जाएगा, इसी प्रकार ज्यों ज्यों उपभोगके पदार्थ निर्माण होते जाएंगे त्यों त्यों उनकी सहायतासे दूर होती जाएगी और इन साधनोंसे इस क्षेत्रके दुःख कम करनेके बाद, **'विद्यया अमृतं अश्नुते'** आत्मविद्यासे अमरता, मोक्ष अथवा कैवल्य प्राप्त होगा । यह अंतिम साध्य है । इसी अंतिम साध्यको मनुष्यने प्राप्त करना है । परन्तु केवल इनमेंसे एकही साधन करूंगा और अन्य कुछ भी नहीं करूंगा ऐसा कहना योग्य नही है । अतः मनुष्य सृष्टिविद्या सीखकर अपनी यहांकी जीवनयात्रा सुखमय करे और आत्मविद्यासे अपने पारमार्थिक परम कल्याणको सिद्ध करे । (प्रथम मंत्रमें **'जगत्यां जगत्'** जगतीमें वर्तमान **'जगत्'**– ऐसा शब्दप्रयोग है । **'जगत्'** के समुदायको **'जगती'** कहते है । **'जगत्'** अर्थात् एक पदार्थ और **'जगती'** उनका समुदाय है । **'व्यक्ति और समुदाय'** ऐसा यह जगत् है । एक पदार्थ और उसकी जाति जगत्में स्थिति है इसीको **'व्यष्टि और समष्टि'** ऐसा कहते है। ऐसी स्थिति होनेसे व्यक्तिको समाजके लिये और समाजको व्यक्तिके लिये कुछ कर्तव्य करने आवश्यक है । क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेसे उसे जैसे कर्तव्य करने होते हैं उसी प्रकार जिस समाजका वह अंश है उसके लिये भी इसे कुछ कार्य करने पडते है । इस प्रकार **'व्यक्ति और समाज'** ये मनुष्यके **'कर्म क्षेत्र'** है । इस संबन्धका उपदेश **'संभूति और असंभूति'** प्रकरणमें कहा है । इसका विचार अब देखिए ।) ॥१४॥

(१२७३) **(वायुः अन् इलं अमृतम्)** प्राण अपार्थिव अमृत है । **(अथ इदं शरीरं भस्मान्तम्)** और यह शरीर अन्तमें भस्म होनेवाला है । **(क्रतो! ओं स्मर)** हे कर्मकर्ता पुरुष ! सर्वरक्षक आत्माका ध्यान कर । **(कृतं स्मर)** किए हुए कर्मोंका स्मरण कर । **(क्रतो स्मर)** हे कर्म करनेवाले पुरुष! स्मरण कर । **(कृतं स्मर)** किए हुए कर्मोंका स्मरण कर ॥१५॥

हे मनुष्य ! यदि तुझे उन्नत होना है तो तू यह लक्ष्यमें रख कि **(वायुः)** यह हमारा प्राण **(अन्+इलं+अ+मृतं)** अपार्थिव अमृतरूपी प्रचण्ड शक्तिवाला है ।

और **(इदं शरीरं भस्म+अन्तं)** यह शरीर अंतमें भस्म होनेवाला है । अतः मर जानेवाले शरीरकी अपेक्षा अमर प्राणशक्तिकी आराधना करनी उचित है । मरनेवाले शरीरमें अमर प्राणशक्ति है और उस प्राणशक्तिके अन्दर तू **(असौ पुरुषः= जीव-आत्मा)** है । तेरी उन्नतिके लिए ये बाहिरके सर्व साधन है । इन साधनोंकी सहायतासे तुझे अपने अमरपनका अनुभव लेना है । 'इन अनित्य साधनोंके योगसे तुझे वह नित्य स्थान प्राप्त करना है ।' इसलिये-

हे **'क्रतो'**= कर्म करनेवाले पुरुष ! कर्म करना जिसका स्वभाव है ऐसे हे मनुष्य ! 'ओं स्मर'= **(अवति इति ओम्)** उस सर्वरक्षक परमात्माका ध्यान कर । उसके गुणोंका चिन्तन कर । उसके कल्याणमय गुणोंको निदिध्यासनसे अपने आत्मबुद्धिमनमें नित्यप्रति बढा । **'कृतं स्मर'**= राज प्रातः - सायं तूने जो कोई कर्म किए हों उनका स्मरण कर । ध्यानपूर्वक विचार करके देख कि तूने जो कोई कर्म किए हैं वे आत्माकी उन्नति करनेवाले है अथवा अवनति। दिनभर किए हुए कर्मोंका सायंकालको तथा रातको किए हुए कर्मोंका निरीक्षण प्रातःकाल कर । इस प्रकार अपने आचरणोंकी परीक्षा तू स्वयं कर और अपना तू स्वयं निरीक्षक बन; जिससे कि तेरी कहां भूल हो रही है और वहां तुझे वास्तवमें क्या परना चालिए, यह अपने आप तेरे ध्यानमें आएगा । 'हमें स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए । जिससे अपनी अवनति हो ऐसे आचरण हमें कभी करने नहीं चाहिए ।'

(वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें यह मंत्र १५ वां है । और इसके द्वितीयार्धमें **'क्लिबे स्मर'** ऐसा अधिक पाठ है। 'क्लिब, क्लिष्, क्लृप् का अर्थ 'समर्थ होना, योग्य होना' ऐसा है । अतः **'क्लिबे स्मर'**= अर्थात् अपने सामर्थ्यकी वृद्धिके लिये यह स्मरण कर ।' अपने आप समर्थ होनेके लिये ऊपर कहे अनुसार **'ईश-स्मरण कर और स्वयं कृत कर्मोंका स्मरण कर ।'** अपने उद्धारके लिए इस श्रेष्ठ मार्गका अवलम्बन कर ।)

प्रतिदिन हम क्या करते है इसका निरीक्षण करना, यह आत्मपरीक्षण आत्मोन्नतिके लिए अत्यंत सहायक है । इसके विना किसी भी प्रकारकी उन्नति होना, संभव नही । साधकके शरीरका पोषण भी इस परीक्षणके विना नही होगा। अतः हमारी आध्यात्मिक उन्नति आत्मपरीक्षणके विना नही होगी ॥१५॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १६ ॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।
ओ३म् खं ब्रह्म ॥ १७ ॥

[अ० ४०, कं० १७, मं० सं० १७]
इति चत्वारिंशोऽध्यायः। [उ० विं० मं० सं० १४०१]
इत्युत्तरविंशतिः समाप्ता। [सर्वे मिलित्वा १९८८]
इति वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल यजुर्वेदसंहिता समाप्ता।

(१९७४) **(अग्ने ! अस्मान् सुपथा राये नय)** हे प्रकाशक ! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयकी ओर ले चल। **(देव ! विश्वानि वयुनानि विद्वान्)** हे देव ! तू सब हमारे कर्मोको जानता है। **(अस्मत् जुहुराणं एनः युयोधि)** हमारे पापसे सब कुटिल पाप दूर कर **(ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम)** तेरी विशेष नमनपूर्वक स्तुति हम करते है ॥१६॥

हे **'अग्ने'**= प्रकाश देनेवाले ईश्वर ! **'अस्मान् सुपथा राये नय'**= हमें अच्छे मार्गसे अभ्युदयको प्राप्त कर। हममें कुमार्गसे जानेकी बुद्धि कभी न हो। धन मिले, चाहे न मिले, पर हमारे आचरणका मार्ग शुद्धही हो। हे देव! तू-

'विश्वानि वयुनानि विद्वान्'= हमारे सब कर्म जानता है। क्योंकि तू सर्वसाक्षी, सर्वत्र है और सर्वत्र है। इस कारण हम जो कुछ करते हैं चाहे वह कितना भु चुपकेसे छिपकर किया गया हो, तो भी वह तुझे उसी समय पता लग जाता है। इतना ही नही, मनमें आया हुआ संकल्प भी तुझे विदित हो जाता है। ऐसी दशामें हम तेरेसे छिपकर कुछ भी नहीं कर सकते। हमारे सब अच्छे बुरे कर्मोका तुझे पता होनेसे जिस मार्गसे जानेसे हमारा उद्धार हो, उस श्रेष्ठ और शुद्ध मार्गसे तू हमें ले चल। हमारेंमें कुटिलता और पापभाव होंगे तो वे, **'जुहुराणं एनः अस्मत् युयोधि**= कुटिलता और पाप, हमारेसे सर्वदाके लिए दूर कर। इन पापोंके साथ युद्ध करके उन्हें दूर करनेके लिये हमें शक्ति दे।

इस तेरी कृपाके लिए हम तुझे **'नमः विधेम'**= नमस्कार करते है। तुझे देनेके लिए हमारे पास नमस्कारके सिवाय दूसरा कुछ नही है। देव ! यह हमारा नमस्कार स्वीकार, और हमारा उद्धार कर ॥१६॥

(१९७५) **(हिरण्मयेन पात्रेण)** सोनेके पात्रसे **(सत्यस्य मुखं अपिहितम्)** सत्यका मुख ढका हुआ है। **(यः असौ असौ पुरुषः)** जो यह प्राणोंमें पुरुष है। **(सः अहं अस्मि)** वह मैं हू **(ओ३म् खं ब्रह्म)** यह सत्य है कि द्यौ ब्रह्म है ॥१७॥

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखं अपिहितम्'= सुवर्णके चमकीले पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है। सोनेके नीचे सत्य छिपा पडा है यह अनुभव हमें व्यवहारमें भी मिलता है। अपराध करनेपर भी अधिकारियोंको घूस देकर उसे छिपाया जा सकता है। घूस न लेते हुए कर्तव्य- भ्रष्ट न होनेवाले बहुत थोडे है। घूस लुच्चाई आदिसे सत्यका मुख बंद कर दिया जाता है इसका दैनंदिनी व्यवहारमें अनुभव हमें मिलता है।

'सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वं अपावृणु' = सत्यधर्मके दर्शन करनेके लिए उस ढक्कनको तू दूर कर। सुवर्णका ढक्कन दूर होनेके बाद सत्यधर्म दीखने लगेगा। व्यवहारमें घूसखोरीकी ओर ध्यान न देनेवाले अधिकारीही स्वकर्ममें दक्ष रहकर सत्यकी खोज कर सकनेमें समर्थ होते है। इसका कारण यह है कि वे इस सुवर्णपात्रको एक ओर करते है। इस मंत्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। **'सत्यधर्मका पालन करनेकी इच्छा हो तो सुवर्णका लोभ छोडना चाहिए'।** यह सुवर्ण नियम वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी सर्वथा सत्य है। **'राष्ट्रधर्म पालन करना हो तो सुवर्णका लोभ त्यागना चाहिए।'** सुवर्णके लोभी मनुष्योंसे कितना राष्ट्रका नाश होता है यह इतिहास बता रहा है। इस मंत्रका यह व्यावहारिक अर्थ हुआ। इसका वास्तवमें अर्थ ऐसा है-

परमात्मा **'सत्य-स्वरूप है।'** उसपर इस सृष्टिका चमकीला आच्छादन पडा हुआ है। उसको विना दूर किए उस सत्यस्वरूप परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते। उसको दर्शन करनेवालोंको इस सृष्टिके मोहसे दूर होना चाहिए। जिसे अपने आत्माकी शक्ति बढानी हो उसे प्राकृतिक मोहजालमें फंसना नहीं चाहिए।

(वाजसनेयी- माध्यंदिन संहितामें इस मंत्रका उत्तरार्ध नही है । और इसके स्थानमें **'योऽसावदित्ये'** यह मंत्र है । **'यः असौ असौ पुरुषः'**= जो यह तेरे **(असौ- असुमें)** प्राणशक्तिके आधारसे रहनेवाला और **(पुरुषः= पुरि + वसती)** इस शरीररूपी नगरीमें रहनेवाला, देह धारण कर अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला, शरीर धारण कर परम पुरुषार्थ करनेकी इच्छावाला जो तेरा भक्त है **'सः अहं अस्मि'**= वही मैं हूं । मै तेरा एकनिष्ठ भक्त हूं । (इस मंत्रके पहिले दो भाग वाजसनेयी माध्यंदिन संहितामें नही है । मंत्रका अन्तिम भाग इस प्रकार है-। **योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओम् खं ब्रह्म** ॥१७॥' यह मंत्र भाग वहां १७ वां है और **'हिरण्मयेन'** इस मंत्रका उत्तरार्ध है । इसका अर्थ-' **(यः असौ)** जो यह **(आदित्ये पुरुषः)** आदित्यमें पुरुष है, **(सः असौ अहम्)** वह यह मैं हूं, **(ओम् खं ब्रह्म)** ब्रह्म आकाशकी तरह व्यापक ओंकारद्वारा दिखाया जाता है ।') इस मंत्रके कहनेके अनुसार भक्तको परमेश्वरकी उपासना करनी चाहिए ॥१७॥

शांति-मंत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(ओम्) यह सत्य है कि, **(अदः पूर्णम्)** वह पूर्ण और **(इदं पूर्णम्)** यह भी पूर्ण है । क्योंकि, **(पूर्णात् पूर्णं उदच्यते)** पूर्णसे पूर्ण निकलता है ।**(पूर्णस्य पूर्णं आदाय)** पूर्णमेंसे पूर्ण लिया जाए तो भी **(पूर्णं एव अवशिष्यते)** पूर्णही अवशिष्ट रहता है ।

(ओम्) हे सर्व-रक्षक ! **(शान्तिः) (वैयक्तिक)** शान्ति, **(शान्तिः) (सामाजिक)** शान्ति, **(शान्तिः) (सांसारिक)** शान्ति, (सर्वत्र स्थिर हो ।)

पूर्ण = परिपूर्ण, संपूर्ण, अनंत, जैसा चाहिए वैसा, जिसमें जरा भी कमी नहीं है, ऐसा, शक्तिमान् । **ओम्**= है, ठीक, निःसंदेह सत्य, सत्य । **(अवति इति ओम्)** = रक्षक; सबका रक्षण करनेवाला ।

अदः = वह **(आदितत्त्व, ब्रह्म, परब्रह्म, परमात्मा, ईश)**

इदं = यह **(जगत्, सृष्टि, विश्व, दृश्य, व्यक्त, अनात्मा, अनीश ।)**

शान्तिः = शांतता, समता, विषमताका अभाव । **'(वैयक्तिक) शांति'** = व्यक्तिके शरीरमें समता, सप्तधातुकी समानता, मन, इन्द्रियां आदि सर्वमें वैषम्यका अभाव, उत्तम आरोग्य इत्यादि । **'(सामाजिक) शांति'** = समाजमें सब वर्णों तथा सब जातियोंमें समता और अवरोध । **'(सांसारिक) शांति'** = भूमि, जल, अग्नि, वायु, भूकम्प आदियोंसे निर्भयता, अथवा इनसे होनेवाली आपत्तियोंसे बचाव करनेकी यथासंभव उपाययोजना करके शान्तिकी स्थापना करना ।

ब्रह्म पूर्ण और उस पूर्ण ब्रह्मसे प्रकट हुआ हुआ यह जगत् भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्णसे पूर्ण बनता है । पूर्ण ब्रह्ममेंसे यह इतना भारी जगत् प्रकट हुआ है , तो भी इससे उस ब्रह्ममें किसी भी प्रकारकी कोई भी न्यूनता नही हुई है; क्योंकि वह पूर्ण है । पूर्णमेंसे पूर्ण निकाला जाय तो मूल पूर्णमें कोई भी न्यूनता नही होती ।

साधक जीव जगत्में समबुद्धिसे रहे; पूर्णका ध्यान करता हुआ वह स्वयं पूर्णत्वको प्राप्त करनेके लिए पुरुषार्थ करे । इसमें वैयक्तिक शांतिका अभिप्राय यह है कि अपने ही शरीरमें, सब आत्मिक और प्राकृतिक शक्तिओंके बीचमें स्वस्थता और समताको साधना, यही प्रथम पुरुषार्थ है । जाति, समाज, राष्ट्र अथवा मानव-समाज, इनसें समता और अविरोध स्थापना यह दूसरा पुरुषार्थ है; और सारे जगत्में शांतता उत्पन्न करनेके लिए कर्तव्यकर्म करना यह तीसरा पुरुषार्थ है । प्रत्येकको अन्तिम सिद्धि द्वारा क्रमशः जीवनमुक्ति, मुक्ति और अतिमुक्ति मिलती है ।

● ● ●

परमेश्वरका नाम-संकिर्तन

हमारे धार्मिक ग्रंथोमें ईश्वरमें नामोंका संकीर्तन विशेष रूपसे करनेकी विविध है। वेदोंमें अनेक नामोंसे एकही सद्वस्तुके वर्णन है। (ऋ. १।१६४।४६) उपनिषदोंमेंभी ऐसाही है। इतिहास और पुराणोमें भी यह संकीर्तन भीन्न रीतिसे आया है। इस छोटीसी ईशोपनिषद्में भी पुनः पुनः 'परमात्म-गुणवर्णन' आया है। ऐसा जहां तहां परमात्माके गुणोंका संकीर्तन, क्यों किया है ? इस प्रश्नका विचार करना उपयुक्त है। इस संबन्धका मूल सिद्धान्त क्या है, उसे जाननेके विना इस नाम संकीर्तनका महत्व समझमें आना कठिन है, इसलिये इस विषयमें संक्षेपसे दो शब्द यहां कहने हैं।

सबसे पहिले बहुतसा प्रास्ताविक ऊहापोह न करते हुए वैदिकधर्मका एक मूलतत्त्व यहां कहना चाहिए और वह यह है कि- 'परमेश्वर सबका पिता है और हम सब उसके पुत्र है।' यह कल्पना इस नाम-संकीर्तनका मूल आधार है। मैं परमेश्वरका पुत्र हूं और परमेश्वर मेरा पिता है, यह कल्पना मनमें स्थिर हो जानेके दूसरे ही क्षणमें दूसरी कल्पना मनमें आती है, और वह यह कि, 'पुत्र उन्नति होते होते कभी न कभी अपने पिताके सदृश हो जाएगा, इस नियमानुसार परमेश्वरके भी पुत्र उन्नति होनेके मार्गमें है, और वे कभी न कभी परमेश्वरके सदृश 'स्वतंत्र (मुक्त)' **'सत्-चिद्-आनन्द-स्वरूप'** होंगे। इस विचारधारासे आगेका सिद्धान्त हमारे ध्यानमें आ सकेगा-

(१) परमेश्वर सबका परम पिता है।

(२) हम सब उसके अमृत पुत्र है।

(३) पिताके गुणधर्म अंशरूपसे जन्मतः पुत्रोंमें होते ही है।

(४) पुत्रके गुणधर्म पूर्ण विकसित हुए कि वह अपने पिताके समान होता है।

(५) पुत्रके उन्नत होनेकी भी परम सीमा है, और कभी न कभी वह उन्नतिकी परम सीमा प्रत्येकको प्राप्त होगी ही।

जिन अर्थोंमें **'पिता पुत्रके गुणधर्म'** पितामें पूर्णत्वको पहुंचे हुए है और पुत्रमें अंशरूपसे है, तो वे समानही है, उन अर्थोंमे जो गुणबोधक नाम होंगे वे पिता पुत्रके एकसे ही होने चाहए, इसमें संदेश नहीं। जैसे 'द्रष्टा (देखनेवाला), श्रोता (सुननेवाला)' इत्यादी नाम केवल गणबोधक होनेसे, वे जैसे पिताके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं वैसे ही पुत्रके लिए भी प्रयुक्त हो सकते है। यह जो व्यावहारिक अनुभव है वह वैसा ही इस परमार्थमें भी सत्य है और इसीलिए वेद, उपनिषद् तथा इत धर्मग्रंथोंमें परमेश्वरके जो गुण-संकीर्तन किए हैं, वे यदि परमेश्वरका पूर्णतया वर्णन कर रहे है, तो वे ही कभी न कभी इस जीवात्माके लिए भी लागू होंगे। जैसे परमेश्वर 'ज्ञाता' है, यह जैसे आज परमेश्वरका सत्य वर्णन है, वैसाही जब यह जीव 'ज्ञाता' होगा, तब उसका भी यही वर्णन होगा। इस समय भी देखिये कि- परमेश्वरकी 'विशाल ब्रह्माण्ड व्याप्ति' को तथा जीवके शरीरमें 'छोटेसे पिण्डमें व्याप्तिको' मनमें यदि न लाया जाए, तो 'ज्ञातृत्व शक्ति' दोनोंमें ही होनेसे जैसे 'ज्ञाता' शब्द पूर्णतया परमेश्वरके लिए लगता है, वैसेही वह अंशरूपसे जीवके लिए भी अवश्य ही लागू होता है। इससे पता चलता है कि हमारे धर्मग्रन्थोंमें परमेश्वरके नामसंकीर्तनोंमें किए गए गुण-वर्णन जीवात्माको उन गुणोंके बढानेकी सूचना दे रहे है, और इसीलिए वे साधकको अत्यन्त सरल उन्नतिका मार्ग दर्शानेवाले हैं, यह निःसंदेह है।

'तेरा पिता शूर, वीर और धीर था, उसने इतिहासमें ये ये महत्त्वके कार्य किए' इत्यादी प्रकारके बडोंके वर्णन लडकोंके सुननेपर उनके अतःकरणोंमें 'हम भी उनके सदृश बनें' ऐसा भाव आना स्वाभाविक है। इस तरह हमारेमें अपनी उन्नति करनेकी प्रेरणा नामसंकीर्तनसे मिलती है। और वह जिस प्रकारसे होती है उसी प्रकारसे इन नामोंका स्मरण करते रहना चाहिए।

वेदोंमें जिन देवताओंका वर्णन है और उनमें जो परमेश्वरके वर्णन है, वे सब उपरोक्त कथनानुसार मनुष्यमें उन्नतिकी स्फूर्ति उत्पन्न करने तथा उसे उन्नतिके मार्गमें लगानेके लिए है। जैसे परमात्माका अंश यहांपर जीवनरूपसे आया हुआ है, वैसेही अग्नि, वायु, सूर्य आदि तैतीस देवता

अंशरूपसे इस जीवात्माके साथ साथ शरीरमें आकर इन्द्रियों और अवयवोंमें बसे हुए है। इसलिए चाहे किसी भी देवताका वर्णन हो, तो वह हमारे शरीरमें स्थित अंशभूत देवताका भी सूक्ष्मरूपसे वर्णन है ही। वन जलानेवाले बडे दावानलका वर्णन छोटीसी चिनगारीका भी अंशरूपसे है, ही। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। इससे यह बात ध्यानमें आती है कि हमारे वेदादि धर्मग्रंथोंमे परमेश्वरका तथा इन देवताओंका वर्णन भी ब्रह्माण्ड-व्यापी शक्तिका वर्णन होता हुआ, वही पिण्डव्यापक अल्पशक्तिका भी है, और वह पिण्डमें उन उन अविकसित शक्तियोंको बढाकर पूर्ण करनेके लिए हमें आदेश दे रहा है। इस प्रत्येक वर्णनसे मनुष्यको बोध लेना और यथा संभव अपने आचरणमें उसे लाना है। इस बोधका कैसे पता चले इस बातको बतानेके लिए आगे तालिकामें उसको दर्शाया है, जिससे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। मूल वाक्य दर्शानेके लिए ऊपर मंत्राङ्क दिया है। अर्थात् उस उस अङ्कवाले मंत्रका वह मूल वाक्य है, ऐसा समझना चाहिये-

परमेश्वरके वर्णनसे मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध

परमात्माके वर्णन।	मनुष्यके ग्रहण करनेयोग्य बोध।
(शान्ति मंत्र)	
अदः पूर्णम्। (वह ब्रह्म पूर्ण है।)	मनुष्य पूर्ण बननेके लिए पुरुषार्थ करे। (इस जन्ममें कुछ विशेष नहीं तो किसी एक गुणमें पूर्णत्व संपादन करे।)
ओम्। (वह रक्षक है।)	आत्मसंरक्षणकी शक्ति शरीरमें लाओ और पीडा देनेवाले प्राणियोंसे पीडितोंका संरक्षण करो।
(मंत्र १)	
ईशा इदं सर्वं वास्यम्। (ईश्वरसे यह सब वसनेयोग्य है। ईश्वर ईश होकर सर्वत्र वसा हुआ है।)	अपनी शक्तिसे स्वामित्व संपादन करके जगत्में व्यवहार कर। पराधीन वृत्तिमें रहते हुए अपने दिन न बिता।
(मंत्र ४)	
अन्- एजत्। (वह कांपता नहीं, वह चंचल नहीं।)	
अन्-एजत्। (वह कांपता नहीं, वह चंचल नहीं।)	किसीसे डरकर उसके सामने कांपे नहीं अर्थात् कभी किसीसे न डरे, चंचलपन छोड दे।
एकम्। (वह एक अद्वितीय है।)	जगत्में अद्वितीय बने, (किसी भी एक विद्यामें तो अवश्य अद्वितीय बने।)
मनसः वजीयः। (वह मनसे वेगवान् है।)	अपना वेग बढावे, आलस्य दूर करे।
देवाः एनत् न आप्नुवन्। (देव उसे प्राप्त नहीं कर सकते, वह देवोंके प्रयत्न करनेपर भी उनसे अप्राप्य है।)	अपनी साधनायें दूसरे सहसा समझ लें ऐसा काम न करे (अथवा स्वयं दूसरोंका संचालक बने, पर उनसे स्वयं न घेरा जाय ऐसे सुरक्षित स्थान पर रहे।)
पूर्वम्। (वह सबसे प्रथम, पूर्वसे है।)	सबसे प्रथम स्वयं कार्य आरंभ करे। (इस काममें यह प्रथम है ऐसा कहावे।)
अर्षत्। (वह ज्ञानी अथवा स्फूर्ति देनेवाला है।)	ज्ञान प्राप्त करे और जनतामें स्फूर्ति बढावे।

तिष्ठत् ।
(वह स्थिर है ।)
तत् धावतः अन्यान् अत्येति ।
(वह दौडनेवाले दूसरोंके आगे जाता है ।)
तस्मिन् मातरिश्वा अपः दधाति ।
(इसके आधारसे जीव कर्म धारण करते है ।)

अपना आधार मजबूत करे। अपने स्थानपर स्थिर रहे। (युध्दमें अपना स्थान न छोडे ।)
सब स्पर्धा करनेवाले पीछे रह जावें और स्वयं उनसे आगे निकल जाए ऐसी अपनी तैयारी करे ।
अपने आप स्वयं कर्म करे और दूसरोंसे कर्म करावे ।

(मंत्र ५)

तत् एजति तत् न एजति ।
(वह दूसरोंको चलाता है, पर स्वयं हिलता नहीं ।)
तत् दूरे तत् उ अन्तिके ।
(वह अज्ञानीके लिए दूर तथा ज्ञानीके लिए समीप है ।)
तत् सर्वस्य अन्तः बाह्यतः च ।
(वह सबके अन्दर और बाहर है ।)

स्वयं अपने स्थानपर स्थिर है और दूसरोंको अपनी ओर आकर्षिक करके उन्हें सत्कर्मांमे प्रवृत्त करावे ।
दुर्जनोंसे दूर रहे और सदा सज्जनोंके पास रहे ।
अपनी अन्दरकी तथा बाहिरकी अवस्थाओंका निरीक्षण करे ।

(मंत्र ६)

सर्वाणि भूतानि आत्मनि, आत्मा च सर्व भूतेषु ।
(सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें है ।)

सब भूतोंको अपना आधार देवे और स्वयं सब भूतोंमें प्रिय होकर रहे ।

(मंत्र ७)

आत्मा एव सर्वाणि भूतानि ।
(आत्माही सर्वभूत है ।)

सब भूतोंकी अपनी आत्माके समान देखे ।

(मंत्र ८)

सः परि- अगात् ।
(वह सर्वत्र गया हुआ है ।)
अकायं, अस्नाविरम् ।
(वह देहरहित, स्नायुरहित है ।)
अव्रणम् ।
(वह व्रणरहित है ।)
शुद्धं, शुक्रम् ।
(वह पवित्र और वीर्यवान् है ।)
अपापविद्धम् ।
(वह पापसे विद्ध हुआ हुआ नहीं है ।)
कविः ।
(वह अतिन्द्रियार्थदर्शी है ।)
मनीषी ।
(वह मनका स्वामी है, विचारशील है ।)
परिभूः ।
(वह सबसे श्रेष्ठ अथवा विजयी है ।)

स्वयं अपने सब कार्यक्षेत्रोंका निरीक्षण करे ।
शरीरकी स्थूल शक्तिको चलानेवाली आत्मिक शक्ति बढावे ।
व्रण, घाव आदि न होवें ऐसा आरोग्य प्राप्त करे ।
पवित्र और वीर्यवान् बने ।
पापसे विद्ध मत हो । (पाप मत कर)
मनुष्य केवल स्थूलदर्शी न होता हुआ सूक्ष्मशक्तियोंका भी ज्ञान प्राप्त करे ।
हमें मनका संयम करना चाहिए तथा विचारपूर्वक कर्तव्य करने चाहिए ।
अपनेको शत्रुके आधीन न करते हुए, जिससे विजय प्राप्त हो सके ऐसी अपनी शक्ति बढानी चाहिए ।

स्वयंभूः ।
(वह अपनी शक्तिसे स्थित है ।)
अपनी शक्तिसे रहे, परावलम्बी न बने ।

याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् ।
(करनेयोग्य कार्य वह करता रहता है ।)
कर्तव्य जैसे करने चाहिए वैसे विमा भूल चूकके करता रहे ।

(मंत्र १६)

पूषा ।
(वह पोषक है)
गरीब- असमर्थोंका पालनपोषण करना चाहिए ।

एक ऋषिः ।
(वह एक ज्ञानी है ।)
विशेष ज्ञान संपादन करे ।

यमः ।
(वह नियामक है ।)
हम अपनी शक्तिपर प्रभुत्व प्राप्त करें, नियामक बनें ।

सूर्यः ।
(वह प्रकाशक है ।)
दूसरोंको प्रकाशका सन्मार्ग दिखावे ।

प्रजापत्यः ।
(वह पालक शक्तिसे युक्त है ।)
आश्रितोंका उत्तम रीतिसे पालन करे ।

कल्याणतमं रूपम् ।
(उसका रूप अत्यंत कल्याण कर है ।)
नित्य प्रसन्नचित्तसे व्यवहार करे ।

(मंत्र १८)

सुपथा राये नय (ति) ।
(वह उत्तम मार्गसे ऐश्वर्यके पास ले जाता है ।)
स्वतः उत्तम मार्गसे ऐश्वर्य प्राप्त करे और दूसरोंको उत्तम मार्गसे उन्नतिको पहुंचाए ।

विश्वानि वयुनानि विद्वान्
(वह सब कर्म जानता है ।)
सब कर्तव्याकर्तव्य कर्मोंका योग्य ज्ञान प्राप्त करे ।

जुहुराणां एनः युध्यते ।
(वह कुटिलता और पापसे युद्ध करता है ।)
कुटिलता और पापसे (सत्यका पक्ष लेते) युद्ध करके उनका पराभव करे ।

सूचना १

यहां जो ईशोपनिषदके मंत्रोंसे बोध दिया गया है, वह उस सूचक मंत्रसे उतनाही मिलता है ऐसा किसीको भी यहां समझना नहीं चाहिए । मंत्रका अर्थ मनमें समझकर उसका थोडा थोडा मनन करनेसे परमेश्वरके गुणोंका ज्ञान धीरे धीरे होने लगेगा । परमेश्वर इस विश्वव्यापक संसारमें जैसे प्रचण्ड कार्य अतुल स्वशक्तिसे कर रहा है वैसे थोडेसे कार्य हमें छोटेसे क्षेत्रमें करते हुए अपने पिताके समान बननेका प्रयत्न करना चाहिए ।

येही कर्म मनुष्यको जन्मसे मृत्यु पर्यन्त करने हैं और इसी कर्म मार्गसे अपनी उन्नति साधनी है । परमेश्वरके गुणोंका शांत चित्तसे जितना अधिक मनन होगा, उतना अधिक स्वकर्तव्योंका स्फुरण साधकको होगा; और इस मार्गसे जाते जाते साधकका स्वभाव भी वैसा बन जाएगा और ज्योंही साधकका स्वभाव वैसा बन गया अर्थात् वह स्वाभाविकता अकृत्रिमतासे वैसे कर्म करने लग गया, कि वह साध्यके समीप समीप पहुंचने लगा ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है । 'परमेश्वरके नाम तारते है' यह कैसे, यह इस विवेचनसे समझा जा सकता है । वेदमंत्रोंमें इस वर्णनका यह ऐसा उपयोग साधकके लिए है । इस प्रकार वेदमंत्रोंका ज्ञानपूर्वक विचार करके बोध प्राप्त करनेसे 'वेदका एकाध सूक्त अथवा एक मंत्र या आधा मंत्र किंवा परमेश्वरका एक नाम भी मनुष्यके परम उत्कर्षके लिए पर्याप्त है, ऐसा जो समझा जाता है, वह कितना यथार्थ है, यह पाठकोंके ध्यानमें आएगा । अब हम ईशोपनिषद्का थोडीसी भिन्न रीतिसे मनन करते है-

ईशोपनिषद्‌में वर्णित मनुष्यकी उन्नतिका मार्ग ।

(१) मनुष्यका साध्य ।

मनुष्यका साध्य 'तीन शांति' स्थापना करना और उन तीन शान्तियोंका अनुभव लेना है। (१) वैयक्तिक शान्ति- शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें किसी भी प्रकारकी अशान्ति न रहे और यहां पूर्ण शान्ति स्थिर रहे, उसेही 'आध्यात्मिक शांति' कहते हैं। योगादि साधन इसी अनुभवके लिएही है। (२) सामाजिक शान्ति- समाजमें विभिन्न मनोवृत्तिवाले लोगोंमें शान्ति स्थापन करना और यह दुसरा साध्य मनुष्यके सन्मुख है। सब प्राणियोंके विषयमें प्रेम और दया भावके विचार और आचारको बढानेसे भी यह शान्ति स्थापित हो सकती है। इसेही आधिभौतिक शान्ति कहते है। (३) जागतिक शान्ति- सब चराचर जगत्‌में शान्ति और समताका स्थापन करना यह अन्तिम साध्य है। इसे 'आधिदैविक साध्य साधने है। इन कर्तव्योंका स्मरण प्रत्येकको करानेके लिए 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार तीनवार उच्चारण किया जाता है। (देखो शान्ति मंत्र)

(२) साधन

उपरोक्त तीन साध्योंको साधनेके लिए 'ज्ञान और कर्म' ये दो साधन हैं। इन साधनोंको प्रयोगमें लानेके लिए प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको स्थापित किया गया है। ज्ञानेन्द्रियोंसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है और कर्मेन्द्रियोंसे कर्म किएं जाते है।

ज्ञानेन्द्रियोंके लिए **'ज्ञान-क्षेत्र'** और कर्मेन्द्रियोंके लिए **'कर्म-क्षेत्र'** है, । जगत्‌में जाननेयोग्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानक्षेत्रकी व्याप्तिके अन्तर्गत है। पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और अनात्मा, ये दोही प्रकारके पदार्थ संसारमें है। अतः इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना यह ज्ञान-क्षेत्रका साध्य है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंसे तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इस अन्तःकरण चतुष्टयसे यह ज्ञान प्राप्त करना है। **'ईशा वास्यं इदं'** (अं. ।१) 'ईश व्याप्त करता है इस सृष्टिको' ऐसा जो प्रथम मंत्रमें कहा है, उससे हमारा ज्ञानक्षेत्र व्यक्त हो रहा है। **'ईश'** शब्दसे **'आत्मा या परमात्मा'** और **'इदं'** शब्दसे **'सृष्टि, जगत् अथवा संसार'** का बोध होता है। मनुष्यको जो ज्ञान प्राप्त करना है वह इसी सम्बन्धमें है। अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो इन दोनोंको प्राप्त करना आवश्यक है। सृष्टि विज्ञानसे 'अभ्युदय' और आत्मज्ञानसे 'निःश्रेयस' प्राप्त हो सकता है। और इन दोनोंकी प्राप्तिसे मनुष्य कृतार्थ हुआ ऐसा माननेमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं दिखती। मनुष्य विशेषतः ऐहिक उन्नति प्रत्यक्ष होनेसे उसे प्राप्त करनेका यत्न करता है। ईशोपनिषद्‌में 'ज्ञानक्षेत्र' संबन्धी तीन (९-११) मंत्रोंने दोनों विद्यायें प्राप्त करके ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति विना विरोधके किस प्रकार साधनी चाहिए, यह उत्तमतया दिखाया है।

(३) कर्म-मार्ग ।

ज्ञान प्राप्त करनेके बाद वह ज्ञानकर्ममें प्रकट होना चाहिए। इसके विना ज्ञानका उचित उपयोग होना संभव नहीं। 'खाना अर्थात् पेट भरना,' ऐसा ज्ञान होनेपर खानेके कर्म करनेही पडते है। ठीक ऐसा यहां भी समझना चाहिए। परमेश्वर पूर्ण और सर्वज्ञ होनेसे इस जगत्‌में उसके श्रेष्ठ कर्म सर्वत्र चल रहे है। उसी प्रकार मनुष्यको जितना जितना ज्ञान प्राप्त होता जाएगा, उतना उतना उसका कर्मक्षेत्र बढता जाएगा, यह सुस्पष्टही है। दोनोंके सम्बन्धसे कर्म उत्पन्न होते है। इस जगत्‌में **'जगत्यां जगत्'** (मं. १) जगतीके आधारसे जगत् है, अर्थात् संघके आधारसे व्यक्ति है, अथवा समष्टिके आधारसे व्यष्टि है। अतः इस सम्बन्धके कारण व्यक्तिको समाजके हितके लिए कर्म करने चाहिए। व्यक्तिमें भी आत्मा और शरीरका सम्बन्ध होनेसे शरीरको आत्माके लिए और आत्माको शरीरके लिए कर्म करने आवश्यक है। परमात्मा सब जगत्‌में होनेसे वह सब जगत्‌को यथायोग्य गति देनेके पवित्र कर्म सर्वदा करही रहा है। अतः मनुष्योको भी अपने कर्तव्य कर्म करने अत्यावश्यक है। इस प्रकार दोनोंका जहां संबन्ध होता है वहां एकका दूसरेसे जो सम्बन्ध होता है, उस संबन्धसे कुछ विशेष कर्तव्य उत्पन्न होते है। इन्हें करनेपर उनकी उन्नति और न करनेपर अवनति होती है। सारांश रूपसे मनुष्यके कर्मक्षेत्रका यह स्वरूप है।

(४) आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ।

मनुष्यका प्रथम कर्तव्य अपने शरीरमें सम विकास करना

है। शरीरमें स्थूल और सूक्ष्म, अनेक शक्तियां है। स्थूल शक्ति अधिक बढानेसे सूक्ष्म शक्तियोंकी प्रगति रुक जाती है और सूक्ष्म शक्तियोंके बढानेका प्रयत्न किया तो स्थूल शक्तियां क्षीण होती है। इसलिए इन दोनों शक्तियोंका समविकास करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। मनुष्यके अंदरकी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंका नामही 'अध्यात्म शक्ति' है और इन शक्तियोंका विकास करनाही 'आध्यात्मिक शक्ति-विकास' है। **'वाक्... प्राण... चक्षुः... श्रोतं... इत्यध्यात्मम्।** (छां.उ. ३।१८।२)' वाणी, प्राण नेत्र, श्रोत्र इत्यादि शक्तियां आध्यात्मिक शक्तियां है। इनका विकास आध्यात्मिक शक्तिका विकास है। स्थूल शक्तियां बढकर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायता करें और सूक्ष्म शक्तियां बढकर सूक्ष्म शक्तियोंकी सहायक बनें, इसका नाम है समविकास। **'आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र'** का तात्पर्य वैयक्तिक शक्तियोंका कार्यक्षेत्र है।

(५) आधिभौतिक कार्यक्षेत्र।

व्यक्तिकी यह शक्ति जैसे जैसे बढती जाएगी, त्यों त्यों उसके बाह्य कार्यक्षेत्र विस्तृत होते जाएंगे। उसके क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, संघ, जात, राष्ट्र, मानवजनता, प्राणी, समष्टि इत्यादि कार्यक्षेत्र एकसे एक उसकी अन्तःशक्तिके विकासानुसार विस्तृत होते जाएंगे। मनुष्य व्यक्ति सम्पूर्ण समष्टिके आधारसे स्थिर है। व्यक्तिका पूर्ण विकास होनेसे पूर्व वह व्यक्ति समष्टिके कार्य करनेके लिए योग्य नहीं हो सकती। अतः व्यक्तिको अपनी योग्यता बढाकर अपनी शक्तिका यज्ञ समष्टिके हितार्थ करना चाहिये।

(६) आधिदैविक कार्यक्षेत्र।

इससे अगला कार्य विश्वके सम्बन्धमें जो कुछ मनुष्यके करने योग्य है वह है। इस जगत्में जो विश्वशक्ति है, उस शक्तिसे व्यक्ति और संघकी सहायता करवाना, अग्नि, जल, वायु, विद्युत् इत्यादि प्रचण्ड दैवी शक्तियां है उन्हें अनुकूल करके उनसे जनता और व्यक्तिके हितके कार्य कराना, यह 'आधिदैविक कार्यक्षेत्र' है।

(७) यज्ञ और अयज्ञ।

मनुष्यको इन त्रिविध कार्यक्षेत्रोंमें अनेक कर्तव्य करने है। और उनके द्वारा वैयक्तिक तथा सामुदायिक सुख और शान्ति प्राप्त करनी है। यह मनुष्यके कार्यक्षेत्रकी व्याप्ति है। वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य करते हुए व्यक्तिके हितके लिए समाजके हितका अर्थात् व्यष्टिके हितके लिए समष्टिके हितका नाश होना नही चाहिए। व्यक्तिको समष्टिके लिए आत्मसमर्पण करना **'यज्ञ'** और व्यक्तिका अपने सुखके लिए समष्टिके हितका नाश करना यह **'अयज्ञ'** है। यज्ञसे मनुष्यकी उन्नति और अयज्ञसे अवनति होती है। ऊपर जो 'जगत्या जगत्' (मं. १) = समष्टिके आधारसे व्यक्ति है, ऐसा कहा है उसका उद्देश यही है। जिस आधारसे व्यक्ति स्थित है, उस आधारको अपने सुखके लिए नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस आधारका नाश हुआ तो फिर वह व्यक्ति कहां रहेगी? अतः अपने आधारको नष्ट करनेका भाव अपने आपका नाश करना है। अयज्ञसे जो नाश होता है वह इस प्रकार है।

(८) कर्म, अकर्म और विकर्म

व्यक्ति और संघके कर्तव्योंका कार्यक्रम परस्पर अविरोधसे होना चाहिए इसका स्पष्टीकरण **'कर्मक्षेत्र'** के तीन मंत्रोंमें किया है। उसके अनुसार प्रत्येकको अपने कर्तव्य करने चाहिए। केवल अस्तित्वके लिएही जो कर्तव्य करने है उनका नाम **'अकर्म'** है। क्योंकि उनका परिणाम व्यक्तितक सीमित है। ('अकर्म' शब्दका निष्काम कर्म ऐसा दूसरा अर्थ भी है।) जो कर्तव्य व्यक्ति और समाजके हित करनेवाले है और जो यज्ञ बुद्धिसे किए जाते है, उनका नाम **'कर्म'** है। यज्ञवाचक सब शब्द इसी कर्मके पर्याय शब्द है और व्यक्ति तथा समाजका घात करनेवाले जो कर्म है, उन्हें **'विकर्म'** अर्थात् विरुध्द कर्म या जो नही करने चाहिए ऐसे कर्म, कहते है। अकर्म तथा कर्म, ये दोनों अविरोधपूर्वक करने चाहिए। केवल विकर्म नहीं करने चाहिए। कर्मक्षेत्रोंमें यह कर्मकी व्याप्ति इतनी विशाल है। तथापि ज्ञान द्वारा अपने कर्तव्य कर्म योग्य रीतिसे करना मनुष्यकी उन्नतिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** (मं. २) = 'कर्म करने चाहिए', ऐसा उपदेश किया गया है। इस मंत्रमें कर्म करने चाहिए ऐसा जो कहा है, वे कर्म कौनसे यह ऊपर दिखाया गया है। व्यक्ति और संघकी उन्नति करनेवाले जो यज्ञरूप कर्म है वे ही करने चाहिए और इन कर्मोंको करते हुए **जिजीविषेच्छतं समाः'**। (मं. २)= **'सौ वर्ष जीनेकी इच्छा कर'**। यह वेदका उपदेश है। **'न कर्म लिप्यते नरे'**। (मं. २)= **'कर्मोंका लेप मनुष्यको नही लगता'** ऐसा जो कहा है, वे येही

यज्ञरूप कर्म है। ये मनुष्यको पवित्र करते है, उच्च पदको प्राप्त कराते हैं और पूज्य बनाते है।

इस प्रकार **'ज्ञान और कर्म'** इन दोनों साधनोंसे साधकका कैसे लाभ होता है और उनके द्वारा आत्मोद्धार कैसे करना चाहिए यह यहां दिखाया है। ये दो, एकहीकी दाई और बाई बाजू है, अथवा एकही उन्नतिके रथके ये दोनों पहिये है। इनके द्वारा उन्नतिके मार्गपर मनुष्यके चलनेसे उसका विकास होकर, उसे अंतमें जो पद प्राप्त करना है वहां पहुंच जाता है।

(९) अमरत्व प्राप्तिका मार्ग।

'कर्मक्षेत्र' का वर्णन करनेवाले जो (१२-१४) मंत्र है उनमें 'वैयक्तिक कर्मोंद्वारा अपना विनाश दूर करके, संघनिष्ठा द्वारा समुदायके लिए कर्म करते हुए अमृतत्वको प्राप्त करे' (मं. १४) ऐसा कहा है। इसका थोडासा यहां मनन करना चाहिए। संघनिष्ठाका क्या अर्थ है और उससे अमरत्व कैसे प्राप्त होता है, यह यहां विचार करनेयोग्य प्रश्न है। संघनिष्ठ पुरुष यदि वास्तवमें अमर होता है तो चोर डाकू भी कहीं किसीसे कम संघनिष्ठ नहीं। है ऐसी अवस्थामें यहां 'संघनिष्ठा' शब्दसे क्या दिखाया गया है इसका विशेष विचार करना चाहिए। इन (१२-१४) मंत्रोंके अर्थमें 'संघभाव और असंघभाव' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। यहां 'भाव' शब्दका अभिप्राय भक्ति ऐसा समझना चाहिए।

भाव अथवा भक्ति केवल ईश्वर पर ही रखनी चाहिए। ईश्वर हमारा पूज्य पिता है और उसके हम **'अमृतपुत्र'** है। अथर्ववेदमें **'अनुव्रतः पितुः'** (अथर्व. ३।३०।२) 'पिताके कार्यकी आगे चलानेवाला पुत्र हो' ऐसा कहा है। इस नियमानुसार हम सब यदि परमेश्वरके पुत्र है, तो उसके चलाए हुए कार्योंको आगे चलाना या उसके कार्योंका भाग हम अपने ऊपर लेकर उसे योग्य रीतिसे पूर्ण करना हमारा कर्तव्य होता है।

ईश्वरके कौनसे कार्य जगत्में चले हुए है? ईश्वरके तीन प्रकारके कार्य यहां प्रचलित है। **'सज्जनोंका संरक्षण, दुष्टोंका दमन और धर्मका संस्थापन।'** (भ.गो. ४।८) ये तीन प्रकारके कार्य परमेश्वर कर रहा है ऐसा सब आर्यशास्त्र कह रहे हैं। येही कार्य हमने किए, या इन कार्योंमें भाग लिया तो हम परमेश्वरके कार्य आगे चला रहे है ऐसा होगा। यही उसकी भक्ति या सेवा है। परमेश्वरकी भक्ति अथवा सेवा करनी चाहिए ऐसा जो कहा है, वह सेवा यही है।

भक्ति, भजन,' इन शब्दोंका अर्थ 'सेवा और सेवन' यही है। **(भज् सेवायां)** भज् धातुका अर्थ सेवा करता है। पिताकी सेवा पुत्रको करनी चाहिए इसका अर्थ यह है कि पिताद्वारा चलाए कार्योंमें अपना भाग बढाना चाहिए। सेवक यही कार्य स्वामीके लिये करता है। ईश्वरके सेवकको भी यही कार्य परमेश्वरार्पण बुद्धिसे नित्य करने चाहिए।

'सज्जनोंका परिपालन, दुर्जनोंका शासन और मानव धर्मकी स्थापना' ये ईश्वरके कार्य हमें करने चाहिए, यही भक्ति है। और इन कर्मोंका करना यह सच्चा **'भक्ति मार्ग'** है। अपनी शक्तिके कारण दुर्जन अनेक प्रकारके दुःख अशक्तोंको देते है। उन दुःखोंसे अशक्तोंका संरक्षण, करने उन्हें सुखी करना, यह 'जनतामें जनार्दनकी उपासना' करना है। विद्यासे, शक्तिसे, अधिकारसे वा धनसे युक्त पुरुषोंकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनकी सेवा करनेवाले उन्हें चाहिए इतने मिल सकते है। परन्तु जो विद्वान् नही है, बलाढय नही है, अधिकारी नही है, या धनवान् नही है, उन्हें कोई सहायक नही मिलता। अतः ऐसे दीन जनोंकी सेवा करना, उसकी स्थिति सुधारना, उसकी उन्नतिके लिए अपने आपको समर्पित कर देना, यह 'ईश्वरकी सेवा' है। दीनोंकी दया यह संतोंका मूल धन है। (तुकाराम)। इसी मूल धनसे यह भक्तिका व्यापर करना है। जो संघभावना, संघनिष्ठा या संघोपासना अथवा संभूतिकी उपासना इस ईशोपनिषद्में कही है वह यही है। ईश्वर **'दीनोद्धारक'** है। इसी दीन जनोद्धारणके कार्यका करना जनसंघकी उपासना है। 'गुरुकी सेवा करनी चाहिए। अर्थात् गुरुको किसी बातकी न्यूनता नहीं रहनी चाहिए। इसी प्रकार दीनोंकी सेवा करनी चाहिए, अर्थात् उनका दीनपन हटाकर, उन्हें अदीन बनाकर उनके उद्धारार्थ जो कुछ करना आवश्यक हो वह करना चाहिए।

यही दीनोद्धारका काम परमेश्वरकी भक्ति है। दुःखितोंके दुःख देखकर अन्तःकरण खिन्न होना चाहिए। इस विषयमें अथर्ववेदका मंत्र देखिए-

> **ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।**
> **अग्निष्टानग्ने प्रमुमोमक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥**
> (अथर्व. २।३४।३)

'जो तेजस्वी लोग बद्ध मनुष्यको अपने मन और चक्षुसे अनुकम्पापूर्ण दृष्टिसे देखते है, उन्हें ही प्रजाजनके साथ रमण करनेवाले विश्वकर्ता तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रीतिसे मुक्ति करता है।'

इस मंत्रमें भी यही कहा है कि दन, दुःखी, बद्ध और परतंत्र लोगोंपर जो लोग दया करते हैं, उनकी दीनता दूर करनेके लिए अविश्रांत परिश्रम करते हैं, उन्हेंही सबसे प्रथम (प्रमुमोक्तु) वह मुक्त करता है, क्योंकि विश्व निर्माता देव (प्रजया संरराणः) जनतामें रहता हुआ उनके आनन्दसे आनन्दित होनेवाला है। इसीलिए वह जनताके दुखोंको देखकर खिन्न होता है और जनताको कष्ट देनेवाले उन दुष्टोंके दलनेके लिए प्रेरणा करता है। 'संघभक्ति' क्या है, कैसी प्राप्त करनी चाहिए, और उसे करनेसे (अमृतत्वं) अमरन कैसे प्राप्त होता है, यह इस विवेचनसे ध्यानमें आ जायेगा।

वेद प्रतिपादित **'भक्तिमार्ग'** यह है। किस मनुष्यकी जितनी योग्यता होगी, उतने अधिकारक्षेत्रमें वह कार्य कर सकेगा। एकाध वैद्य निर्धन रोगीका योग्य औषधोपचार करके मैने ईश्वर सेवा की ऐसा समझ सकता है। दूसरा कोई तृषितको थोडा जल देकर वैसीही ईश्वर-सेवा कर सकता है। कोई वीर परतंत्र देशको पीडित करनेवाले शत्रुको दूर करने जनताको स्वतंत्र करके परमेश्वरकी सेवा की ऐसा समझ सकता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(भ.गी. १८।४६)

स्वकर्मोसे ईश्वरको उपासना करके सिद्धि प्राप्त करनेका यह मार्ग है। ये कर्तव्य क्षेत्र विविध है और कर्ताकी पुरुषार्थ शक्तिके अनुसार उसके कर्तव्य भी अनेक है, परंतु उन सबका तत्त्व 'जनतामें जनार्दनकी सेवा' यही एक है। यही 'भक्ति मार्ग' है और पूर्वोक्त 'ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग' ये दोनों मार्ग इसके अन्तर्हित होते है। इस मार्गसे जानेवाला भक्तही सरल और शीघ्र मुक्त होता है, यह उपरोक्त अथर्व वचनसे स्पष्ट प्रतिपादित है।

आजकल प्रचलित भक्तिमार्गमें इस जनसंघोपासनासे ईश्वर भक्ति होती है ऐसा कोई भी नहीं मानता और केवल 'नाम-स्मरण' ही तारक है ऐसा माना जाता है। वह यद्यपि अन्तःशुद्धि मात्रके लिए ठीक है तथापि ईश्वरकी बहिरंग उपासना वह नही है। अतः उनके कार्य आधेही होते है। **तत् उ अन्तः बाह्यतः च।** (मं. ५) ईश्वर अन्दर है और बाहिर भी है, नामस्मरणसे यदि उसकी अन्तःकरणमें पूजा हुई, तो उसके 'नाम' से बताये कर्तव्य बहिस्थ जनता रूप जनार्दनके लिए उसे करनेही चाहिए। तभी कर्तव्योंकी आन्तरिक और बाह्य पूर्णता होनी संभव है। एक अन्तर्यामीके कर्तव्य किए तो आधा कार्य हुआ। दूसरा बहिस्थ ईश्वरके लिये कर्तव्य करनेतक कार्य पूर्णही नहीं होगा।

अब यहां एकही प्रश्नका विचार करना है और वह यह कि 'जन संघ भक्ति' अथवा 'संभूतिकी भक्ति' या पृथिवीपर संपूर्ण जनताकी सेवा एक मनुष्यसे कैसे हो सकती है? वस्तुतः 'संभूति' में सर्व प्राणियोंकी समष्टिकी कल्पना है। किसी भी एक मनुष्यके लिए सब मनुष्योंतक अपनी सेवा पहुंचाना संभव नहीं। इसलिए अपना दया भाव और प्रेमभाव जितना संभव हो, उतना विस्तृत करनेसे, उससे जितनी जनसंघ सेवा होती, उतनी वह जनार्दनको अर्पण होगी और उतनी उसकी उन्नतीमें सहायक होगी का सब प्राणियोंतक उसकी सेवा पहुंचनेकी कोई आवश्यकता नही है। केवल उसकी संघभक्तिसे अधर्म बढना नही चाहिए इतनी सावधानी उसे रखनी चाहिए।

राक्षस भी संघोपासक थे, परन्तु वे अपने संघबलसे दूसरोंका नाश करके अपने भोगको बढानेका प्रयत्न करनेके कारण उनके प्रयत्न जनताके दुःख बढानेके लिये कारण होते थे। इसलिये ऐसे प्रयत्नोंसे अधोगति होती है। 'सब दुष्ट दूर हों, अथवा दुष्टोंकी वृत्ति बदल जाए, सज्जनोंका संरक्षण हो और धर्मका उत्कर्ष हो'। इस दिशामें जो संघकी भक्ति होती है वही उद्धारक है। इमें दूसरोंके रक्तसे सने हुए भोग हमें मिले ऐसा उद्देश नहीं है, अपितु सर्वत्र शांति फैले, मानवधर्म का उत्कर्ष हो और सब लोग सुखी हों, इस दृष्टीसे प्रयत्न करना चाहिये। इस कर्तव्यकी दिशा उस उपनिषद्ने संभूति प्रकरणद्वारा दर्शायी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति, यह जो शुद्ध सनातन धर्म है, उसका प्रारंभ अहिंसासे अर्थात् भूतदयासे होकर अंत 'सर्वस्व समर्पण' में होता है। इससे राक्षसी स्वार्थको इस धर्ममें जरा भी स्थान नही है।

सत्यनिष्ठा।

जगत्में शान्तिकी स्थापना करना यह मनुष्यका साध्य है। और इस साध्यको साधनेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीन साधन है। इन तीनां साधनोंका दुरुपयोग

न हो इसलिए 'सत्य' की कसौटी मनुष्यको सदा अपने पास रखनी चाहिए ऐसा पंद्रहवें मंत्रमें सूचित किया है। 'सुवर्णका मोह छोडनेमें सत्य दिखेगा'। 'लोभ छोडना चाहिए' ऐसा कहनेके कारण संघभक्तिसे सब राक्षसी स्वार्थ और अनर्थ दूर हो सकते है।

ऐसी इस निर्लोभ सत्यनिष्ठासे पवित्र हुए ज्ञान, कर्म और भक्तिसे सर्वत्र शांति स्थापित करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

सिंहावलोकन ।

'हमने जो कुछ किया उसका क्या परिणाम हुआ, वह हमारे उद्धारके लिए सहायक हुआ वा नहीं, कौनसे प्रतिबंध आए इसका सिंहावलोकन करते हुए उपरोक्त मार्गका अनुसरूण करना चाहिए' ऐसा पुनः १७वें मंत्रमें बताया है। **'कृतं स्मर'**='क्या किया है वह देखो और फिर आगे जो कुछ करना है वह करो'। यह उपदेश सबको सदा ध्यानमें रखने योग्य है।

इस प्रकार ईशोपनिषद्के मुख्य उपदेशोंका मनन यहां समाप्त हुआ। इसका इस रीतिसे अधिक विचार करके साधक अपनी उन्नति करते रहें। शेष उपदेश यद्यपि विशेष बोधप्रद हैं, पर वह सुगमतासे समझने योग्य होनेसे उसका यहां अधिक स्पष्टीकरण नहीं किया है।

वेदका आदेश ।

कितने लोग ऐसा समझते हैं कि वेदके मंत्रभागोंमें 'आज्ञा' **(विधि)** नहीं है। 'मनुष्य'! तू यह कर और यह न कर' ऐसी स्पष्ट आज्ञा नहीं है, ऐसा जो समझते हैं, उसका अर्थ इतनाही है कि सब संहिताओंमें सभी आज्ञार्थक वाक्य नहीं हैं। परन्तु वेदोंमें बहुत आज्ञायें हैं-

(१) ***मा गृधः***= लोभ मत कर।

(२) **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**= दानसे भोग कर।

(३) **कृतं स्मर**= किए हुए कृत्योंका स्मरण कर।

इत्यादि आज्ञा इस ईशोपनिषद्में (अर्थात् यजु.अ.४० में) हैं। इन्हें देखनेपर वेदमें आज्ञायें नहीं है ऐसा किसीको भी समझना नहीं चाहिए। परन्तु जो लोग, आज्ञायें नहीं हैं ऐसा मानते हैं, उनका अर्थ वह यह है कि- उन्हें चाहिए उतनी आज्ञायें वेदमें नहीं हैं। 'आज्ञा होनेपरही काम करना, नहीं तो नहीं' यह वृत्ति दास मनुष्योंकी है।

स्वतंत्र मनुष्य आन्तरिक स्फूर्तिसे काम करता है। लोगोंको गुलाम बनानेकी वेदकी इच्छा नहीं है, अतः वह किसीको बहुतसी आज्ञा नहीं करता; परन्तु वह ऐसी शब्द योजना करके वर्णन करता है कि उससे मनुष्यके अन्तःकरणमें स्वयं स्फूर्ति उत्पन्न हो। और वह अपनी अन्तःस्फूर्तिसे स्वतंत्रतासे अपने कर्तव्य करे तथा अपनी उन्नति करे।

इससे पाठकोंको पता चलेगा कि वेदमंत्रमें आज्ञार्थक प्रयोग बहुतसे नही हैं यह वैदिक धर्मके महत्त्वको बढानेवाली बात है। 'इन्द्र अपने बलसे शत्रुका नाश करता है' ऐसा कहतेही, 'हम अपना बल बढाकर शत्रुका नाश करना चाहिए' ऐसी स्फूर्ति मनमें उत्पन्न होती है। इसी प्रकार वेदोंमें जिस देवताकी स्तुति है वह उपासकके अन्तःकरमें वैसी स्फूर्ति उत्पन्न करनेके लिये ही है। अतः वह आज्ञा न भी हुई तो भी आज्ञाकाही काम करती है। इतनाही नहीं परंतु उसका परिणाम उससे भी अधिक बडा होता है। इस दृष्टिसे वेदके प्रशंसापरके मंत्र अत्यन्त महत्त्वके है। इस ईशोपनिषद्में बहुतसे मंत्र 'आत्मा' देवताकी प्रशंसा परक है। केवल तृतीय मंत्र 'आत्मघातक' लोगोंकी निन्दा परक है। इस प्रकारसे निन्दा करनेवाले जो मंत्र हैं, वे अवनतिकारक कर्म न करनेका उपदेश करते है। 'अमुक मत करो' ऐसी निषेधक आज्ञा न करते हुए 'ऐसे आत्मघातक कर्म करनेसे ऐसी अधोगति होती है' ऐसे वेदमंत्रोंमे कहा है। यह निन्दा सुनकर ऐसे अधोगतिकारक कर्म न करने चाहिए ऐसी स्वाभाविक इच्छा मनमें उत्पन्न होती है। स्तुतिके मंत्रोंसे सत्कर्मोंकी ओर प्रेरणा तथा निन्दाके मंत्रोंसे हीन कर्मोंकी ओरसे निवृत्ति होती है। मनुष्यको दुष्ट कर्मोंसे निवृत्त कर सत्कर्मोमे प्रवृत्त करना यह धर्मका उद्देश इस प्रकार वैदिक धर्मसे सिद्ध होता है। आज्ञा करके मनुष्योंमें गुलामीका भाव बढानेकी अपेक्षा इस प्रकारसे मनुष्यकी अन्तःप्रवृत्तिको ही बदलना सर्वथा श्रेयस्करही है।

अब वेदके सम्बन्धमें दूसरी एक बात यहां ध्यानमें रखने योग्य है। और वह यह कि वेदमें 'प्रशंसा' रूप मंत्रोंकी संख्या बहुत अधिक है और 'निन्दा' रूप मंत्रोंकी संख्या बहुत थोडी है। इस छोटीसी उपनिषदमें अठारह मंत्रोंमेंसे केवल एकही मंत्र निन्दापरक है, शेष इस मंत्र प्रशंसात्मक है। इसका कारण यह है कि 'मनुष्यका मन जिस बातका अधिक मनन करता है तदनुसार वह बनता है।' मनका यह धर्म है। इसलिए मनके सामने कौनसी बात लानी चाहिए और कौनसी नहीं, इस विषयमें अत्यधिक विचार करना चाहिए। निषेधरूपसे भी यदि बुरी कल्पना

मनके सामने रख दी जाय तो भी उसका बुरा परिणाम मनपर होता है। बुरी बुरी कल्पनायें निषेधरूपमें बार बार सामने आनेसे उनका प्रभाव धीरे धीरे मनपर पडता जाता है और अन्तमें मनके वह स्थिर रूपसे मनपर जम जाता है। इसलिये निषेधकी आज्ञाये भी बहुत थोडी होनी चाहिए और वे ऐसी भाषामें होनी चाहिए कि उनका यथासंभव मनपर प्रभाव कम पडे। 'बुरी बात मत करो' ऐसा कहनेमें प्रथम बुरी बातकी कल्पना मनुष्यको दी गई और फिर उसका निषेध किया गया। इसलिए ऐसे निषेध वारंवार मनके सामने आने लगे तो उनका अच्छा परिणाम होनेके स्थानपर उनका मनपर अनिष्ट परिणामही होगा। इसीलिए मनके इस धर्मका विचार करते हुए वेदमें बुरी बातोंके निषेधोंके भी मंत्र बहुत थोडे हैं और प्रशंसाके मंत्र प्रकाशके धर्मकी स्फूर्ति देनेवाले होनेसे अधिक है। ईशोपनिषद्में अथवा यजुर्वेदके ४० वे अध्यायमें १६ मंत्र प्रशंसापरके हैं और केवल एकही मंत्र निन्दापरक है।

उपदेश भी केवल **'सत्यधर्मकी दृष्टि'** (मं. १५) मनुष्यके मनमें उत्पन्न करनेके लियेही करना चाहिये और वह सत्यकी प्रशंसा करके किया जाना चाहिये न कि असत्यका निषेध करते हुए। वेदके उपदेशमें यह विवेक अवश्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए ईशोपनिषद्का उपदेश सर्वथा सरल शब्दोंमें नीचें दिया जाता है। भावार्थ स्पष्टतया ध्यानमें आनेके लिए उसमें कुछ शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं और कहीं कहीं क्रियापदोमें थोडासा परिवर्तन भी किया है। कहां क्या परिवर्तन किया गया है यह पीछे दिए गए उपनिषद् वचनोंसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकता है। यह परिवर्तन इसलिये किया है कि किस मंत्रसे किस भावनाकी जाग्रति मनमें उत्पन्न होती है, यह पाठकोंके ध्यानमें शीघ्र आ सके।

उपनिषद्का भावार्थ।

शान्ति मंत्र।

यह आत्मा पूर्ण है और उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है। यद्यपि उस पूर्णसे यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है तथापि वह जैसाका वैसाही परिपूर्ण रहा है, उसमें कुछ भी न्यूनतानहीं हुई है।

आत्मज्ञान।

(१) (आत्मा) ईश इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप रहा है। इस जगत्में संघके आधारसे व्यक्ति रहता है। अतः व्यक्तिको अपने भोगोंका त्याग (यज्ञ) संघके लिए करना चाहिए और त्याग करके जो कुछ अवशिष्ट रहे उसका अपने लिए भोग करना योग्य है। कोई लोभ न करे। धन किसी एक व्यक्तिका नहीं, वह सब जनसंघका है।

(२) मनुष्य इस जगत्में सर्वदा प्रशस्त कर्मही करता रहे, और सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न करे। यह ही मनुष्यका धर्म है; इसे ध्यानमें रखना चाहिए। इसको छोडकर दुसरा उन्नतिका मार्ग नहीं है। सत्कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता।

(३) केवल शारीरिक शक्तिके लिये ही प्रसिद्ध कुछ लोग हैं, परन्तु उनमें आत्मिक ज्ञान जरा भी नहीं होता। जो आत्मघातकी लोग है वे मरनेके बाद और जीतेजी भी ऐसेही लोगोंमें गिने जाते है।

(४) वह आत्मा अद्वितीय, स्थिर, सबसे प्रथम, द्रष्टा और मनका भी प्रेरक है। वह इन्द्रियोंको नही दीसता। सब वेगवान् पदार्थोंकी अपेक्षा भी उसका वेग अधिक है। उसके आधारसेही मनुष्य अपने कर्म धारण करता रहता है।

(५) वह स्वयं नहीं हिलता तो भी सबको चलाता है। वह दूर होता हुआ भी सबके पास है। वह सबके अन्दर और बाहिर भी है।

(६) जो सर्व प्राणियोंके आत्मामें और आत्माको सब प्राणियोंमें देखता है वह किसीका भी तिरस्कार नहीं करता।

(७) जिस समय आत्माही सब भूत बन गया उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव प्रतीत होनेसे उसे किसी भी कारणसे शोक अथवा मोह नहीं होता।

(८) वह सर्व व्यापक है। वह देह रहित, स्नायु और व्रणसे रहित है। उसी प्रकार वह शुद्ध, निष्पाप, तेजस्वी, अतीन्द्रियार्थदर्शी, मनका स्वामी, विजयी और स्वयंभू है, और वह सदा सब कर्तव्य योग्य रीतिसे करता रहता है।

(९) जिनकी दृष्टि केवल व्यक्तितकही सीमित है वे अधोगतिको जाते है और जिनकी दृष्टि केवल संघतक सीमित है वे भी अधोगतिको पाते है।

(१०) व्यक्ति निष्ठासे एक लाभ होता है और संघनिष्ठासे दूसरा लाभ होता है ऐसा विचारशील उपदेशक कहते आये है।

(११) व्यक्तिका हित और संघका हित इन दोनोंको साधना चाहिए। व्यक्तिकी उपासनासे वैयक्तिक कष्ट दूर करके संघसेवासे साधक अमर हो सकता है।

(१२) जो केवल जगत्की विद्याकेही पीछे लग जाते है वे अवगत होते हैं। इसी प्रकार जो केवल आत्माकी विद्याके पीछे लग जाते हैं ये भी अवनत होते है ।

(१३) जगत्की विद्याका फल और आत्माकी विद्याका फल पृथक् पृथक् है ऐसा विचारशील उपदेशकोंका कहना है ।

(१४) जगत्की विद्या और आत्माकी विद्या ये दोनोंही साथ साथ उपयोगी है । जगत्की विद्यासे (सांसारिक) दुःख दूर करके साधक आत्माकी विद्यासे अमर हो सकता ।

(१५) प्राण अपार्थिव अमृत है और यह स्थूल शरीर नाशवान् है । अतः हे जीव ! ओंकारका जप कर और अपने किए हुए कर्मोंपर विचार कर ।

(१६) हे देव ! हमें उत्तम मार्गसे अभ्युदयके पास ले जा । तू हमारे सब कर्मोंको जानताही है । हमारेसे कुटिल पापोंको दूर कर । इसके लिए हम सब तुझे नमस्कार करते हैं ।

(१७) सत्यका मुख सुवर्णके ढक्कनसे ढका गया है। अतः यदि सत्य देखना हो तो वह सुवर्णका ढक्कन दूर करना चाहिए। शरीर धारण किया हुआ मैं प्राणशक्तिसे उन्नति चाहनेवाला तेरा उपासक हूं ।

यह ईशोपनिषद्का सरल रूपान्तर है । शब्दशः अनुवाद पूर्व स्थानमें दिया है । यह यहां पुनः देकर द्विरुक्तिका दोष किया है, तथापि कई मंत्रोंका आशय केवल भाषान्तरसे एकदम ध्यानमें नहीं आसकता, अतः यह सरल शब्दोंमें रूपान्तर दिया है । इस आत्म-सूक्तमें मुख्यतः आत्माका गुणवर्णन है, तथापि प्रार्थना, उपासना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, आज्ञा, याचना आदेश आदि सब प्रकारके मंत्र इसमें है, इस दृष्टिसे विचार करनेवालेको यह सरल रूपान्तर सहायक होगा । आज्ञा और निन्दा कितनी थोडी है और प्रशंसा कितनी अधिक है इनकी तुलना यहां देखने योग्य है । बुराईकी निन्दातक अधिक नहीं करनी चाहिए, और की भी तो बहुत थोडी । बुरे शब्दोंसे जिह्वाको थोडासा भी खराब करना नहीं चाहिए। सुविचारके शब्दही उच्चारने चाहिए । यही वेदका आशय है । देखिए-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । (ऋ. १।८९।८)

'अच्छी बातें कानोंसे सुनें और अच्छीही बातें आंखोसे देखें ।' किसी भी तरहसे, निषेध करनेके लिए भी बुराईका स्मरणतक न करें । वेदमें स्तुति और प्रशंसापरक मंत्र अधिक तथा निन्दा और आज्ञापरक कम है, इसका यही कारण है । मनका स्वभावधर्म 'मननसे तद्रूप होनेका' होनेसे वेदोंने प्रशंसनीय दिशाही लोगोंके सामने रखी है। सत्यके शिवाय शेष जो कुछ है । वह असत्यही है । उसका वर्णन करके मनको कलुषित करनेसे क्या लाभ? इसके अतिरिक्त 'सत्य एक' होनेसे उसको कहा जा सकता है, पर असत्योंकी गणना करके कहना असंभव है । उदाहरणार्थ एक और एक कितने होते है ? इस प्रकार उत्तर एकमात्र सत्य 'दो' है, इसके सिवाय शेष सब संख्याएं असत्य है । ऐसी दशामें उन सब असत्य उत्तरोंका कहना कठिन है पर इस प्रश्नका एक मात्र सत्य उत्तर 'दो' अति सुगमतासे प्रकट किया जा सकता है । यह बात सब विषयोंके सत्यासत्यके कथनमें समझनी चाहिए ।

उपरोक्त मंत्रोंमें जो स्तुतिविषयक मंत्र है, वे परमात्माके गुणोंकी प्रशंसा कर रहे है । परन्तु कभी न कभी इस उपासककी आत्मा उन गुणोंसे युक्त होनेवाली है, अतः 'हमारे अन्दर विद्यमान् आत्माके भावी स्वरूपका वर्णन' यह है, अथवा 'सोऽहं' (मं.१७) = 'वह मैं हूं' ऐसा समझते हुए वह वर्णन पढनेसे अपनी उन्नति कितनी हुई है और कितनी होनी है, यह उससे ठीक ठीक ज्ञान होगा । इस तरह जाननेसे अपनी कर्ममार्गपर कितनी प्रगति हुई है इसका ज्ञान प्रत्येकको हो सकता है ।

तीन मार्ग ।

ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग ये तीन मार्ग है । इन्हें एकही स्तुति विषयक मंत्रमें अथवा सूक्तमें कैसे समझा जा सकता है यह अब देखिए । उपरोक्त सूक्तमें (१) जो परमात्मापरक स्तुतिका वर्णन है, वह हमारी आत्माका, उसके पूर्णत्वको प्राप्त करनेकी अन्तिम अवस्थाका वर्णन है, क्योंकि **'सोऽहं** (मं. १७)' = 'वह मै' होनेसे वह वर्णन जैसा उसका है वैसा मेरा भी है, ऐसा समझकर यह आत्माका ज्ञान हमें कितना प्राप्त हुआ है, यह देखते जाना और आगे अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न करते जाना यह, 'ज्ञान मार्ग' है । (२) परमात्मा क्या करता है यह उसके वर्णनसे या स्तुतिसे जानकर तत्सदृश कर्म **'स (इव) अहं'**= 'उसके सदृश मैं' होऊंगा ऐसी भावनासे अपने कर्तव्य क्षेत्रानुसार यथा संभव निर्दोषपूर्ण

कर्म करते रहना यह 'कर्ममार्ग' है। इस विषयमें, क्या क्या बोध लेना चाहिए यह मंत्रखण्डोसे तालिका द्वारा पहिले दिया है। (३) इन दोनों मार्गोंमें कुछ समानताका नाता दिखाया जाता है। जगत्में परमेश्वरके जो महान्से महान् कार्य चल रहे हैं उनमेंसे यथा संभव भाग परमेश्वरार्पण बुद्धिसे बंटाना, उससे जनतामें जनार्दनकी यथाशक्ति सेवा करनी और फलेच्छाकी जरा भी इच्छा न रखते हुए' **(तस्याऽहं)**'= 'उसका मै हूं' ऐसी भावनासे केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे की गई सेवाको परमेश्वरकोही अर्पण करना, यह 'भक्तिमार्ग' है। एकही स्तुति विषयक सूक्तसे ये तीनों मार्ग इस रीतिसे विचार और मनन करनेवालेको सुगमतया समझमें आ सकते है। आधुनिक समयमेंही ये मार्ग प्रचलित हुए है। ऐसी बात नही है। अपितु वेदमें ये पूर्वसेही इस प्रकारसे है। इस ईशोपनिषद्कें मंत्रोंसे ये तीनों मार्गो पाठक समझ सकेंगे। भक्तिमार्गका उत्तम उदाहरण हनुमान्जीका है। रामनामके जपसे अंतरंगकी पवित्रता करनी और श्रीरामके जगदुद्धारक कर्मोंका यथाशक्ति अपने ऊपर भार लेकर ईश्वरकीही बहिरंग उपासना करनी, ये भक्तिमार्गके द्विविध कार्य श्री हनुमान्जीको जीवनीको देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होते है। ऐसे और भी बहुत भक्त है। उनके चरित्रोंमें भी यही बात दिखाई देगी।

विरोधका परिहार

ईशोपनिषद्में 'विद्या प्रकरण' और 'संभूति प्रकरण' है। उनमें 'विद्या अविद्या' और 'संभूति असंभूति' इन शब्दोंके अनेक भाष्यकारोंने अत्यन्त विविध अर्थ किए है। इसीलिए इनके अर्थ अन्तर्गत प्रमाणोंसे क्या होते हैं यह यहां दिखाना आवश्यक है। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

प्रथम मंत्रमें **'ईशा वास्यमिदं सर्व'** ऐसा वाक्य है। इसमें **'ईश और इदं'** ये दो पदार्थ ज्ञातव्य हैं और ये एक दूसरेसे भिन्न हैं। इनका ज्ञानक्षेत्र है।

ईश	इदं
ईश	जगत्
ईश	अनीश
आत्मा	अनात्मा
आत्म-विद्या	अनात्म-विद्या
...विद्या	अ...विद्या

इस प्रकार ये शब्द प्रथम मंत्रके अनुरोधसे बनते हैं। येही शब्द विद्या अविद्या प्रकरणमें क्रमशः **'आत्मज्ञान और जगत्का विज्ञान'** इस अर्थमें आए है। पहिले मंत्रके पदोंका विचार करनेपर अगले मंत्रोंका स्पष्टीकरण सुगमतासे हो जाता है। और किसी भी प्रकारकी शंका नही रहती।

इसी मंत्र भागके अगले **'जगत्यां जगत्'** ये शब्द जगत्का वर्णन करनेवाले है। जगत् कैसे है? इसका उत्तर है कि वह **'जगतीके आधारसे जगत्'** स्थित है। जगतोंके समूहका नामही 'जगती' है। 'संघके आधारसे व्यक्ति इस जगतमें रहती है' यह जगत्का नियम है। 'एक और उसकी जाति', यह जगत्का रूप है।-

जगती	जगत्
सं+भूति	अ+संभूति
संघ	व्यक्ति

'सं+भू' धातुका अर्थ 'एक होकर रहना' है। एक होकर न रहनेके भावको **'अ+सं+भू'** धातु दर्शा रही है। एक होकर जमा करके रहनेकी एक कल्पना और अकेले अकेले रहनेकी दूसरी कल्पना, ऐसी दो कल्पनायें, **'संभूति और असंभूति'** इन दो शब्दोंसे दिखाई गई। इन दोनोंकी जंजीर बनाकर उससे मनुष्यकी उन्नति किस प्रकार साधी जा सकती है, यह इस प्रकरणमें दर्शाया गया है।

परस्परविरोधी शक्तियोंसे एक दूसरेके लिए सहायता कैसी प्राप्त करनी चाहिए, यह बात पाठक यहां अवश्य ध्यानपूर्वक देखें, क्योंकि जगत्में सर्वदा परस्पर विरोधी विचारकोंकी यदि कहीं भेट भी हो गई तो एक दूसरेके विचारोंकी एकता न होनेसे प्रायः झगडे होते है और उनके बढ जानेसे दोनोंका नाश हो जाता है। परन्तु यदि दोनों विरुद्ध शक्तियोंको एक केन्द्रमें परस्पर सहायक बनाया जाय, तो दोनोंका अनेक प्रकारसे कल्याण हो सकता है। विरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियोंको सहायक कैसे बनाना चाहिए, यह इस प्रकरणका विचार करनेवाला सुगमतासे समझ सकता है।

असुर्य लोक।

'असुर्य लोक' गाढ अंधकारसे व्याप्त है ऐसा तृतीय मंत्रमें कहा है। ये असूर्य लोक कौनसे है, इस विषयमें बहुतोंने बहुतसे तर्क किए है। कितनोंने 'सूर्य जहां नहीं है ऐसे देश' ऐसा अर्थ किया है। परन्तु यहांपर 'असुर्य' शब्द है 'असूर्य' नहीं। दूसरे कुछ मानते हैं कि 'असुर' का अर्थ राक्षस है, और उनके देशका नाम 'असुर्यलोक'

है। परन्तु ये सब अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होते। वेदमें 'असु+र' यह शब्द 'प्राणशक्ति (असु+र) देनेवाला' इस अर्थमें परमेश्वरके लिए आया है। वेदमें बहुतसे देवताओंके लिए **'असुर'** शब्द इसी अर्थमें विशेषण रूपसे आया है। 'असुरत्व' शब्द (ऋग्वेदमें २८ बार), वाज. यजुर्वेदमें ३ बार, और अथर्वमें २ बार) उपरोक्त अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। **'असुर्य'** शब्द वेदमें अन्य दूसरे किसी अर्थमें भी नही आया है और केवल **'परमेश्वरसे मिलनेवाले (असु-र्य) प्राणोंके बल'** इसी एक अर्थमें आया है। प्राणके ऊपरके बौद्धिक, मानसिक आदि बल इससे भिन्न है।

इस अर्थकी ठीक ठीक समझनेके लिए यहां थोडासा भिन्न रीतिसे विचार करना आवश्यक है। शरीरमें (असु) प्राणोंकी शक्तिको गति देनेवाला आत्मा है। उसके रहते हुए शरीरमें प्राण शक्ति कार्य करती रहती है और वह गया कि प्राणोंका कार्य बन्द होता है। इस दशामें शरीरमें (असु+र) प्राणशक्ति देनेवाला आत्माही है इसमें शंका नहीं। इस आत्माके जो बल शरीरमें दीखते है वे 'असुर्य' बल है। आत्मासे प्राप्त जो प्राणोंके बल है वे येही है। ये प्राणोंके बल इन्द्रियोंमें और शरीरमें संचार करते है, इसीलिए प्राणोंके बल इस स्थूल शरीरमें संचार करते है, इसीलिए दीखते है। रावणके शरीरमें जैसे ये असुर्य बल थे वैसेही रामके भी शरीरमें थे। केवल दोनोंमें भेद इतना था कि रावण अपनी शक्तिसे दूसरोंकी परतंत्र करके अपने शारीरिक भोग बढाता था और इसलिए राक्षस गिना जाता था और श्रीरामचंद्र समर्थ होते हुए भी स्वयं कष्ट उठाकर दुःखितोंके दुःखको दूर करनेके लिए आजन्म प्रयत्न करते रहे। अतः उनकी गणना देवोंमें हुई। असुर्य बल दोनोंमें होता हुआ भी एक देव और दूसरा राक्षस बन सकता है। इसका कारण उनकी आत्मिक शक्तिकी प्रवृत्तिमें भेद है। इसीलिए ही-

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृत्ताः।

'असुर्य बलसे प्रसिद्धि पाए हुए वे लोग हैं जो गाढ अंधकारसे व्याप्त है।' इस मंत्रमें 'असुर्यलोकों' का 'गाढ अन्धकारसे व्याप्त' ऐसा विशेषण दिया है। वह इसीलिए कि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले दुसरे असुर्य लोक भी है।, उनका बोध इस मंत्रमें न हो। उनका वर्णन हम इसप्रकार कर सकते है-

असुर्या नाम ते लोका आत्माभासा प्रकाशिताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्मविदो नराः॥

'असुर्य बलसे प्रसिद्ध वे लोग हैं कि जो आत्माके तेजसे प्रकाशित होते है। उनमें मरनेके बाद भी उनकी गणना होती है जो कोई आत्मज्ञानी नर है।' (यह श्लोक हमने अपनी कल्पनासे बनाया है।)

ऐसी अर्थापत्तिसे और विशेषणके अनुसंधानसे श्लोकका हम निर्माण कर सकते है, और इससे पता चलेगा कि असुर्य लोग जैसे राक्षसोंमें हो सकते है, ठीक वैसेही देवोंमें भी हो सकते है। रावण और राम दोनोंही असुर्य शक्तिसे युक्त थे, पर रावण अंधतमसे व्याप्त था और दूसरा आत्मप्रकाशसे पूर्ण था; क्योंकि प्रथमकी अन्तःकरण-प्रवृत्ति स्वार्थी भोग तृष्णासे अन्ध हुई थी और उसके विरुद्ध दूसरेकी शुद्धाचरण और जगदुद्धारकी प्रेरणासे प्रकाशित हुई थी। अन्तःशक्ति भी एंजिनकी तरह है। वह केवल गति देती है। एंजिनकी शक्तिसे काटनेके यंत्र जैसे फिरते है वैसेही जोडनेके यंत्र भी फिरते है। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए।

धनका अपहार।

प्रथम मंत्रमें **'मा गृधः, कस्य स्विद् धनं'**। (मं. १) ऐसा एक चरण है। उसका,' (१) लोभ मत कर, (२) धन भला किसका है ?' ऐसा अर्थ हम पहिले कर आए है। कुछ लोग इस मंत्रखण्डके ऐसे दो भाग न मानते हुए 'कस्य स्विद् धनं मा गृधः।' किसीके भी धनका लोभ मत रख, ऐसा अर्थ करते है। यद्यपि यह अर्थ बुरा नहीं है तथापि इस मंत्रमें जो **'स्वित्'** शब्द है वह प्रश्नार्थक है। 'क्या, भला' ऐसाही उसका अर्थ होता है। **'कस्य स्वित्'** इसका **'कस्य चित्'** ऐसा अर्थ नहीं होता। 'दूसरे किसीके भी धनपर लोभ मत रख' ऐसा अर्थ कई मानते है। दूसरेके धनका अपहार मत कर, दूसरोंको लूट करके अपने उपभोग मत बढा। यह एक उत्तमही उपदेश है पर इससे अर्थापत्तिद्वारा एक ध्वनि निकलती है कि 'स्वयं कष्ट उठाकर प्राप्त की हुई जो धन संपत्ति हो और जो पैत्रिक संपत्ति अपने भागमें आई हुई हो, वह दूसरेकी न होनेसे और केवल अपनी ही होनेसे उस सर्व संपत्तिका हम स्वयं चाहिए जैसा उपभोग करें, उसमें कोई भी आपत्ति नहीं।' इस दृष्टिसे यह अर्थ धर्मकी दृष्टिमें थोडासा गौणही प्रतीत होता है। धर्म ऐसा कहता है कि जो कुछ हमारा धन हो उसका भी लोभ न करते हुए उसका यज्ञ करना चाहिए अर्थात् 'उसका विनियोग सज्जनोंके सत्कार करनेमें, समान लोगोंकी संगतिकरणमें

और जिनमें न्यूतना है उनकी न्यूनता हटाकर पूर्णता करनेके लिये दान देनेमें व्यय करना चाहिये।' यज्ञ अर्थात् 'सत्कार-संगति-दानात्मक सत्कर्म।' अपने धनका इन कार्योंमें उपयोग करना चाहिये।' अपने धनका ऐसा उपयोग करना ही वास्तविक (**त्यक्तेन भुञ्जीथाः।** (मं. १)) है ऐसा माने, और ऐसा अपने धनका यज्ञ करके जो कुछ अवशिष्ट रहेगा उसका अपने लिए भोग करे। यज्ञशेष भक्षण धर्म है, यहां दूसरेके धनका लोभ नही करना चाहिये; इतनाही अर्थ है यह बात नहीं अपितु धनका भी लोभ नहीं करना चाहिये ऐसा यहां दर्शाया है। (**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**) दानसे अपने धनके भोगकी आज्ञा है। (**मः गृधः**) धनका लोभ मत कर (**कस्य स्वित् धनं?**) किस एक व्यक्तिका भला धन है? इसका विचार कर। ऐसा मंत्रका अर्थ सीधा दीखता है। विचारकको उसी समय पता लग जाएगा कि धन किसी एक व्यक्तिका नहीं है; क्योंकि जो व्यक्ति धन मेरा है ऐसा मानता है, वह व्यक्ति थोडेही समयमें सब धन यहींपर छोडकर चला जाता है। इसलिये धन किसी भी एक व्यक्तिका नहीं, यह सत्य है। धन सब जनताका, समाजका, संघका अथवा जातिका या समष्टिका है, व्यक्तिका नहीं। यद्यपि धन कुछ कालके लिए एक व्यक्तिके आधीन होता है, तथापि उस धनका वास्तविक स्वामी समाज है और वह व्यक्ति उस समाजके धनके एक भागका **'विश्वस्त पंच'** है। पंच अपने आधीन धनका अपने लिए उपभोग नहीं कर सकता, वह जिसका है उसके लिए उसका उपयोग कर सकता है। ठीक इसी प्रकार यहां प्रत्येक व्यक्तिको अपने धनका यज्ञ करनेकाही अधिकार है, अर्थात् जनताके हितार्थ कर्तव्यकर्म करनेमेंही खर्च करनेका उसे अधिकार है। उस धनका अपने भोगके लिए खर्च करनेका उसे अधिकार नही।

अग्निदेवता।

ईशोपनिषद्के अन्तिम मंत्रमें 'अग्नि' देवताकी प्रार्थना है। वहां अग्नि शब्दसे किसका बोध लेना चाहिए इसका विचार करना चाहिए। बहुतसे लोग अग्नि शब्दसे 'यज्ञमें उपयोगमें आनेवाली आग' ऐसा यहां समझते है। यद्यपि अग्नि शब्दका ऐसा अर्थ है तथापि वह यहां इष्ट नहीं है। वह सम्पूर्ण सूक्त एकही देवताका वर्णन करता है। उसी एकही देवके लिए इन सूक्तमें निम्नलिखित नाम आए है + (मं. १) ईश, (मं. ४), एकं, तत्, एनत्, पूर्व, (मं. ५) तत्, (मं. ६-७) आत्मा, (मं. ८), सः, कविः, स्वयंभूः, (मं. ९) सत्यं, (मं. १६) पूषा, ऋषिः, यमः, सूर्यः, (मं. १८) अग्निः।

इन शब्दोंपर विचार करनेपर 'सः, तत्, ईशः स्वयंभूः, कविः, सत्यः, पूषा, यमः, अग्निः, आत्मा' इत्यादि सब नाम एकही परमात्माके है ऐसा स्पष्ट दीखता है। एक सूक्तमें एक देवताकेही गुण दिखानेके लिए ये सब शब्द आए है। 'आत्मा' के अतिरिक्त इस सूक्तका अन्य कोई देवता आजतक किसीने भी नहीं माना है। अतः अग्नि आदि शब्द एक आत्माकेही वाक इस सूक्तमें आए हैं यह निर्विवाद है। यही आशय निम्न ऋचा भी दर्शा रही है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विपा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं
मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ. १।१६४।४६)

इस मंत्रमें एक आत्माके इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा ये नाम हैं ऐसा कहा है। इस वेदमंत्रको देखनेसे अग्नि, यम आदि शब्द उस एक अद्वितीय स्वयंभू परमात्माकेही वाचक है इस विषयमें शंका नहीं रहेगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ चालीसवां अध्याय समाप्त॥

●●●